संस्कृत विश्वविद्यालय
ग्रन्थमाला का 128वाँ पुष्प

किरातार्जुनीय महाकाव्य में औचित्य विमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो. मुरली मनोहर पाठक
कुलपति

लेखक
डॉ. सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील'

सम्पादक
प्रो. शिवशङ्कर मिश्र
शोध विभागाध्यक्ष

शोध प्रकाशन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
नई दिल्ली–16

संस्कृत विश्वविद्यालय ग्रन्थमाला का 128 पुष्प

किरातार्जुनीय महाकाव्य में औचित्य विमर्श

प्रधान सम्पादक
प्रो. मुरलीमनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादक
प्रो. शिवशंकर मिश्र

लेखक
डॉ. सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील'

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः
(केन्द्रीयविश्वविद्यालयः)
नवदेहली-110016

प्रकाशकः

श्रीलालबहादुरशास्त्रीराष्ट्रियसंस्कृतविश्वविद्यालयः

बी-4, कुतुबसांस्थानिकक्षेत्रम्, नवदेहली-110016

© प्रकाशकाधीनः

प्रकाशनवर्षम् : 2023

ISBN : 978-81-966663-3-0

मूल्यम् : ₹ 350.00

मुद्रकः

डी.वी. प्रिण्टर्स

97-यू.बी., जवाहरनगरम्, देहली-110007

अनुक्रमिका

१.	समर्पण		५
२.	शुभाशीर्वाद	– पद्मविभूषण जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज	७
३.	शुभाशंसा	– प्रो. मुरली मनोहर पाठक	९
४.	सम्पादकीय	– प्रो.शिवशंकर मिश्र	१०
५.	शुभाशंसा	– प्रो. श्रीनिवास वरखेड़ी	१२
६.		– डॉ० विशनलाल गौड़ 'व्योमशेखर'	१३
७.		– प्रो० अशोक कुमार तिवारी	१४
८.		– डॉ० कृष्णकेशव षडंगी	१५
९.		– डॉ० महावीर अग्रवाल	१६
१०.		– श्री शिवाकान्त द्विवेदी	१८
११.	पुरोवाक्		२०
१२.	कृतज्ञता ज्ञापन	– डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील'	२४
१३.	किरातार्जुनीय महाकाव्य का संक्षिप्त इतिवृत्त	–	२७
१४.	प्रथम विमर्श	– भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धान्त का विकास	१
१५.	द्वितीय विमर्श	– महाकाव्यगत औचित्य आकलन के मानदण्ड	१९
१६.	तृतीय विमर्श	– किरातार्जुनीय का प्रबन्धार्थौचित्य	६८
१७.	चतुर्थ विमर्श	– भाषागत पदवाक्यौचित्य	८७
१८.	पञ्चम विमर्श	– प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरणिक इकाईगत औचित्य	११०
१९.	षष्ठ विमर्श	– लोकाचारगत औचित्य	१३५
२०.	सप्तम विमर्श	– मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामूलक रसादिगत औचित्य	१७४
२१.	उपसंहृति		२४५
२२.	सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची		२४७

卐 श्रीमद्राघवो विजयते 卐

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य
स्वामी रामभद्राचार्य
(पद्मविभूषण से सम्मानित)
जीवनपर्यन्त कुलाधिपति
जगद्गुरु रामभद्राचार्य राजकीय दिव्याङ्ग
विश्वविद्यालय, चित्रकूट (उ०प्र०)

श्रीतुलसीपीठ सेवान्यास (पंजी०)
आमोदवन, चित्रकूट
(सतना), म०प्र०

शुभाशीर्वाद

औचित्यानुगुणाम्भोधिं जानकीलक्ष्मणान्वितम्।
वातिप्रार्थितपादाब्जं रामं ब्रह्म समाश्रये।।

औचित्यविचार भारतीय समीक्षा का अनिवार्यतम अंग बनता हुआ अनुसन्धित्सुओं का जीवातुभूत पाथेय बन गया है, इसमें किन्हीं भी विपश्चित्पुङ्गवों को विचिकित्सा नहीं होनी चाहिए। औचित्यविचार का प्रारम्भ कतिपय विद्वान् आचार्य क्षेमेन्द्र से मानते हैं और कतिपय सुधीधन तो क्षेमेन्द्र की मनीषा को तो इसकी उपज्ञा ही मान लेते हैं, पर यह पक्ष सत्य से उतना ही दूर है कि जितना मेदिनी से व्योममण्डल।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्यसन्निधिः।।
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थदस्यानवच्छेदो विशेषस्मृतिहेतवः।।

वाक्यपदीयम् २/३१५/३१६

उक्त दोनों कारिकाएँ श्रीभर्तृहरि कृत ''**वाक्यपदीयम्**'' की हैं, न कि क्षेमेन्द्र की। इनमें से द्वितीय कारिका में वर्णित औचिति शब्द को ही आधार बनाकर **डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील'** ने अपने शोधनिर्देशक डॉ० विशनलाल गौड़ व्योमशेखर जी के निर्देशन में ''**किरातार्जुनीय महाकाव्य में औचित्य विमर्श**'' नामक बहुत उत्कृष्ट शोधप्रबन्ध विद्यावारिधि (पीएच्०डी०) उपाधि के लिए मेरठ विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया था। उक्त शोध प्रबन्ध में निर्देशक एवं निर्देश्य की प्रातिभपाटवी विद्वन्मनोहारिणी होती हुई अनेक सुधीजन के परितोष की सम्बलावली बनी है– यह कहने में मुझे किसी भी प्रकार का संकोच नहीं है।

सम्प्रति वही शोधप्रबन्ध मेरे अनन्य शिष्य एवं प्रियपरिकर डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' (गाजियाबाद) द्वारा ग्रन्थाकारित होकर विद्वत्तल्लजों के करकमलों का रोलम्ब बन रहा है। मैंने स्थालीपुलाकन्याय से इस पुस्तक की वर्ण्यवस्तु का निरीक्षण कर अत्यन्त मानस परितोष प्राप्त किया है। मैं, डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' को अनेक मंगलाशासन संव्याहृत करते हुए इस ग्रन्थ के प्रचार एवं प्रसारार्थ भगवान् श्रीसीतारामजी से प्रार्थना करता हूँ।

इति मङ्गलमाशास्ते

राघवीयो जगद्गुरुः रामानन्दाचार्यः
स्वामिरामभद्राचार्यः

शुभाशंसा

स्वदेशी और विदेशी सभी मनीषियों ने "औचित्यविचार" की चर्चा को प्रत्यक्ष अथवा परोक्षरूप से स्वीकार करके अपने व्यवहार में तथा कृतित्व में सहर्ष स्वीकार किया है, इस विचार को काव्यशास्त्रीय परिप्रेक्ष्य में आचार्य क्षेमेन्द्र ने यद्यपि "औचित्यविचारचर्चा" कहा किन्तु स्वविषयप्रतिपादन में औचित्य को अर्चा योग्य बना दिया। वास्तव में यह औचित्य विचार है ही ऐसा अनिवार्य उपादान, कि इसको सौन्दर्य-माधुर्य का मुख्य हेतु माना जाता है। अद्यावधि सभ्यसमाज में तथा काव्यप्रणयन आदि में औचित्य को पूर्णरूपेण समादर प्राप्त है।

हमारे अनन्य मित्र डॉ. सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' ने इसी औचित्य को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करके महाकवि भारवि प्रणीत "किरातार्जुनीयम्" महाकाव्य का व्यापक दृष्टि से विमर्श किया है। ऐसे अध्ययन से जहाँ संस्कृत विषय के अनुसन्धित्सुओं को विशिष्ट लाभ प्राप्त होगा वहीं अर्वाचीन कृतिकारों को भी प्राचीन कृतिकारों के पटुतम प्रयोगों का सुन्दर निदर्शन भी प्राप्त होगा।

औचित्य तत्व के अनेक उपादानों को ध्यान में रखते हुए किरातार्जुनीय महाकाव्य का यह अध्ययन निश्चितरूपेण प्रशंसनीय है। मैं इसके लिए डॉ. सुशील को बधाई देते हुए संस्कृत जगत् में इस काव्यशास्त्रीय कार्य का स्वागत करता हूँ।

प्रो. मुरली मनोहर पाठक
कुलपति

सम्पादकीय

दृश्यमान जगत् में सर्वाधिक रूप से यदि कोई वाचन-लेखन आदि व्यवहारों का जीवित तत्त्व है तो वह है- "औचित्य तत्त्व"। इसी को आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य विचार कहकर व्याख्यायित किया है। औचित्य पर अवलम्बित व्यवहार को सद्व्यवहार, रूप को सौन्दर्य, रस को आनन्दवर्धक, आचरण को सदाचरण आदि रूप में व्यवहृत किया जाता है। लोक-वेद आदि में भी प्रयुक्त उपादानों का उचित रूप से किया गया प्रयोग ही प्रशंसनीय कहा जाता है। ठीक इसी प्रकार काव्य की प्रत्येक विधा में औचित्य का साम्राज्य काव्य को लोकप्रिय, प्रसन्न, गम्भीर आदि सद्गुणों से समलंकृत करता है। फलतः औचित्य की अपेक्षा और अनौचित्य की उपेक्षा विपश्चिज्जगत् में सर्वथा मान्य है।

इसी औचित्य विचार को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करके महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय संस्कृत महाकाव्य पर डॉ. सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' जी ने व्यापकता के साथ विमर्श किया है। इनका यह ग्रन्थ जहाँ एक ओर औचित्य की अनिवार्यता की दुन्दुभि बजा रहा है वहीं दूसरी ओर किरातार्जुनीयम् के प्रणेता महाकवि भारवि की काव्यप्रतिभा, व्याकरणिक सभी उपादानों की गम्भीरता तथा उनके द्वारा प्रयुक्त लोकाचारगत औचित्यों की औचिती सिद्ध कर रहा है।

संस्कृतवाङ्मय में महाकवि भारवि अर्थगौरव के महान् कवि हैं। छन्द-अलंकार एवं रस प्रयोग में परमसिद्ध हैं। अर्थगौरव एवं औचित्य महाकवि भारवि की सर्वश्रेष्ठ पहचान है इसीलिए भारवेरर्थगौरवम् यह वचन भारवि का अभिज्ञान बना हुआ है। कवि ने अपने काव्य में अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण प्रेरणाप्रद वचनों का सन्निवेश किया है जो सर्वथा मननीय एवं अनुकरणीय हैं जो निम्नवत् द्रष्टव्य हैं–

- हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।
- वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।
- सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।
- गुणानुरोधेन विना न सत्क्रिया।
- अहो दुरन्ता बलवद्विरोधिता।
- व्रजन्ति ते मूढ़धियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
- विचित्ररूपा खलु चित्तवृत्तयः।

किरातार्जुनीयम् एक महान् काव्यरत्न है इसमें जीवन परिवर्तनकारी महनीय सूत्रपुञ्ज विद्यमान हैं जिनके मनन एवं अनुशीलन से हमें अभ्युदय एवं निश्रेयस की प्राप्ति होती है।

मैं डॉ. सुशील जी के इस महनीय कार्य की भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए उनके इस सारस्वत अवदान का काव्य समीक्षा जगत् में हार्दिक स्वागत करता हूँ।

- प्रो. शिवशङ्कर मिश्र
शोधविभागाध्यक्ष

प्रो. श्रीनिवास वरखेड़ी
कुलपति
केन्द्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
संसद के अधिनियम द्वारा स्थापित
(पूर्व में राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार के अधीन)

Prof. Shrinivasa Varakhedi
Vice-Chancellor
Central Sanskrit University
Established by an Act of Parliament
(Formerly Rashtriya Sanskrit Sansthan,
Under Ministry of Education, Govt. of India)

आज़ादी का
अमृत महोत्सव

औचित्यं सर्वभूषणम्

अथ औचित्यमीमांसा सर्वत्र श्लाघ्या। पदेषु वाक्येषु प्रबन्धार्थेषु गुणेषु अलङ्कारेषु नवरसेषु इत्येवं सर्वत्र औचित्यमनिवार्यम्। औचित्यपूर्णैः काव्यशास्त्रविनोदैः कालोऽपि गच्छति। किञ्च औचित्यं काव्यजीवितम् इति काव्यशास्त्रपण्डितैः प्रोच्यते। अनौचित्यात् ऋते नान्यत् रसभङ्गस्य कारणम् इति साहित्यशास्त्रोपदेशः। एवम् औचित्यं सर्वत्र स्यादिति स्पष्टम्। तत्रापि महाकाव्येषु सर्वेषु औचित्यं साद्यन्तं समाहितं वर्तते। सर्वाणि महाकाव्यानि औचित्यपूर्णैः गुणालङ्काररसप्रभृतिभिः अद्यापि लसन्ति। विशिष्य महाकविना कालिदासेन विरचितं किरातार्जुनीयम् इतीदं महाकाव्यं पञ्चसु महाकाव्येषु अन्यतमं सत् अद्यापि विराजते।

सम्प्रति 'किरातार्जुनीय महाकाव्य मे औचित्य विमर्श' इति हिन्दीभाषानिबद्धः ग्रन्थः डा. सुरेन्द्र शर्मा - (सुशील) महाभागेन विरचितः वर्तते। एषः ग्रन्थः शर्ममहाभागेन सप्तसु अध्यायेषु विभज्य विमृष्टः वर्तते। भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धान्त का विकास "इत्यारभ्य मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मूलक रसादिगत औचित्य" इत्यान्तं यावत् सुष्ठु विमर्शः कृतः। विदुषः डा. सुरेन्द्रशर्मणः सारस्वतसेवा एवमेव निर्विघ्नरूपेण प्रवर्तताम् इति श्रीः।

भवदीयः
Stavar

आचार्यः श्रीनिवासः वरखेडी
कुलपतिः

56-57, संस्थानिक क्षेत्र, जनकपुरी, नई दिल्ली - 110058
56-57, Institutional Area, Janakpuri, New Delhi - 110058 (INDIA)
Ph. No.: (O) 011-28523949, **EPABX** : 28524993, 28521994, 28524995
EMAIL : vicechancellorcsu@gmail.com / vc@csu.co.in, **WEBSITE** : www.sanskrit.nic.in

डॉ० विशनलाल गौड़ 'व्योमशेखर'
एम.ए., पीएच्.डी., नव्यव्या. आचार्य
पूर्व प्राचार्य, अतर्रा महाविद्यालय,
अतर्रा बाँदा (उ०प्र०)
बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी

गौड़ निवास
156, श्याम पार्क मेन,
साहिबाबाद, गाजियाबाद (उ०प्र०)
मो० - 9968033349

सरस्वती का अभिनन्दनीय आराधन !

डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' की पारिवारिक परम्परा भारतभारती संस्कृत और सनातन वैदिक संस्कृति के गौरव संवर्धन तथा आचारपालन के प्रति पूर्ण समर्पित रही है। निष्ठापूर्वक श्रम और अनुसंधान का प्रतिफल है, इनका औचित्यसिद्धान्त की दृष्टि से सम्पन्न किया गया किरातार्जुनीय महाकाव्य का यह विमर्श। संस्कृत भारती-मन्दिर में डा० सुशील के इस आराधन-पुष्प का मैं हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

- डॉ० विशनलाल गौड़ 'व्योमशेखर'

卐 **श्रीहरिः शरणम्** 卐

मङ्गलानुशासन

कम्पन्ते नास्तिकास्ते यदुदधिसलिलाल्लोल कल्लोलजालात्
कालाद् हालाहलाद् वै क्रकचककठिनात्तर्कतोऽर्कादखर्वात्।
गर्वान्धस्यात्र गन्धादपि गतमतयः शाब्दबोधाद्यदीयात्
प्रोदीया देव देवोऽद्यतनगुरुगुरु रामभद्रो यतीन्द्रः।।

भगवान् श्रीरामचन्द्र जी का सम्पूर्ण विग्रह औचित्यखचित है, इस तथ्य को महर्षि वाल्मीकि बोलते हैं- **समः समविभक्ताङ्गः** इत्यादि। वस्तुतः औचित्य ही समस्त-विश्वगत वस्तु-व्यक्ति-परिस्थित्यादि का मापक एवं व्यापक वह प्रमाणदण्ड या निकषोपल है, जिससे प्रमाणित या निकषित होते हुए वस्तु-व्यक्त्यादि ग्राह्य अथवा त्याज्यकोटि में प्रविष्ट होते हैं।

यह सत्य आचार्य क्षेमेन्द्र के आलोचनात्मक दर्शन में प्रधानीभूत महद्वस्तु के रूप में उपस्थित था। अतएव आचार्य ने रसालङ्कारादि निखिलकाव्य तत्वों से ऊपर मानकर उसे प्रतिष्ठापित करने का सफल प्रयास किया।

सुशीलोपनामक डॉ० सुरेन्द्र शर्मा जी ने अपनी विवेकसम्पृक्तमनीषा से ''**अभितः-परितः**'' इत्यादिन्यायेन औचित्य की गोद में लालनार्थ महाकवि श्रीभारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीय को समर्पित किया। इन्होंने औचित्य की अनेक रश्मियों का प्रवेश कराकर महाकाव्य की शल्यक्रिया द्वारा उसका परीक्षण किया है। ये स्वप्रयास में निश्चयेन सफल भी रहे हैं। ऐसा हो भी क्यों न, जब मुख्यकारणता श्रीतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु स्वामी रामभद्राचार्य जी की अनाद्यनन्त-वरदहस्तगता है। सूचिकामात्रावलोकन से ही इनके निर्देशक महोदय डॉ० व्योमशेखर जी का भी प्रातिभवैलक्षण्य ध्वनित होता है।

मैं इस चिन्तन प्रधान तथा भारतीय संस्कृतिधृक् कार्य के लिए अपने गुरुभ्राता सुशील जी को अनेकशः साधुवाद देता हूँ।

शुभानुध्यायी

सेवानिवृत्त प्रो० अशोक कुमार तिवारी (व्याकरण)
जगद्गुरु रामानन्दाचार्य राजस्थान संस्कृत
विश्वविद्यालय, जयपुर (राज०)

शुभाशंसा

किरातोचिताकारभृच्चन्द्रचूड
प्रवीरार्जुनाजिप्रसंगप्रसिद्धम्॥1॥
कवेर्भारवेर्वाग्विलासै रसालं
किरातार्जुनीयं महाकाव्यमीडे॥

अलंकारवक्रोक्तिकौचित्यशब्दैः
प्रपूर्णं महाभारताख्यानसृष्टम्।
तपस्यारतश्रीकिरीटीशवार्त्ता-
सदर्थप्रकाशैर्महाकाव्यमृद्धम् ॥2॥

स्फुरत्पाशुपातास्त्रमाप्यानुगामी
शिवस्यार्जुनोऽन्भून्महच्छिष्य एव।
सुगीतः स यस्मिन् वराहांगभेद-
प्रसंगेन चैतन्यमहाकाव्यमाढ्यम्॥3॥

यदौचित्यमर्थे च शब्दप्रयोगे
रसव्यञ्जने चापि नीतिप्रकाशे।
पदे लोकवृत्तौ च वाक्यप्रमाणे
सुरेन्द्रेण चालोचितं तत्समस्तम्॥4॥

सदा रामभद्राभिधाचार्यशिष्यः
सुरेन्द्रः सुशीलो विदग्धाग्रगण्यः।
गुणज्ञो गुणी ज्ञानपीयूषपायी
लभेतामुना पुस्तकेन प्रकीर्तिम्॥5॥

–डॉ. कृष्णकेशव षडङ्गी
भुवनेश्वरम् (ओडिशा)

डॉ. महावीर अग्रवाल
प्रति–कुलपति

पतञ्जलि विश्वविद्यालय
University of Patanjali

(Established by Uttarakhand state legisslature under the
University of Patanjali Act No. 4, Year 2006 & Recognized by U.G.C.)

मनोगतम्

विश्वसाहित्य में भारतीय संस्कृत साहित्य का सर्वोच्च स्थान है। काव्यशास्त्र के भारतीय आचार्यों ने काव्यतत्त्वों का जितना सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन किया है वह अन्यत्र दुर्लभ है। रस, अलंकार, ध्वनि वक्रोक्ति, रीति एवं औचित्य पर भरत मुनि, मम्मट, भामह, आनन्दवर्धन, कुन्तक, वामन तथा क्षेमेन्द्र आदि स्वनामधन्य आचार्यों ने व्यापक चिन्तन किया है। 'औचित्यविचारचर्चा' के लेखक आचार्य क्षेमेन्द्र औचित्य को ही काव्य की आत्मा मानते हैं। अपनी अमर कृति में उन्होंने औचित्य के विविध पक्षों का सोदाहरण प्रतिपादन किया है।

संस्कृत बृहत्त्रयी के तीन श्रेष्ठतम महाकवियों में भारवि का स्मरण अत्यन्त आदरपूर्वक किया जाता है। अपनी एकमात्र कृति से वे संस्कृत काव्य जगत् में अमर हैं। भारवि के विषय में 'भारवेरर्थ गौरवम्' यह कथन सुप्रसिद्ध है।

विविधविद्याविभूषित, विद्वद्वरेण्य श्रीमान् डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' ने औचित्य के निकष पर किरातार्जुनीयम् रूपी स्वर्ण को कसकर, इस महाकाव्य की महिमा को अपने ग्रन्थ के माध्यम से प्रकाशित किया है। इस प्रकार के शोधकार्य बहुत कम हुए हैं। रस, अलंकार और ध्वनि पर शोधकार्य करने वाले अनुसन्धाताओं की सुदीर्ध परम्परा है, किन्तु औचित्य को सर्वोत्तम कसौटी मानकर अनुसन्धानकर्त्ता अल्प ही हैं।

संस्कृत साहित्य के गहन अध्येता ने सात अध्यायों में विवेच्य विषय की भावपूर्ण और सुन्दर विवेचना की है। भाषाविज्ञान, व्याकरण, लोकाचार, मनोविज्ञान आदि उत्तमोत्तम बिन्दुओं को ध्यान में रखते हुए सहज, सरल, सरस और प्राञ्जल भाषा में लिखित यह ग्रन्थ पठनीय है। मैं, 'विद्या ददाति विनयम्' तथा 'आचार्य देवोभव' को अपने जीवन में पूर्ण रूप से चरितार्थ करने वाले माननीय डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील' जी को अनेकानेक हार्दिक शुभकामनाएँ प्रेषित करता हूँ। आपके उत्तम स्वास्थ्य, सुख सौभाग्य से परिपूर्ण धवल कीर्तियुक्त शतवर्षीय जीवन की मंगल कामना करता हूँ।

मुझे पूर्ण विश्वास है कि इस महनीय कृति से संस्कृत शोध -पथिकों को शोध की उत्तम दिशा प्राप्त होगी।

सादर।

मंगलाभिलाषी

-महामहोपाध्याय प्रो० महावीर अग्रवाल

प्रति-कुलपति, पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

पूर्व कुलपति, उत्तराखण्ड संस्कृत विश्वविद्यालय, हरिद्वार।

शिवाकान्त द्विवेदी
आई.ए.एस.
जिलाधिकारी, बरेली

कार्यालय : 0581-2473303
0581-2457043
निवास : 0581-2557147
0581-2558764
फैक्स : 0581-2557001
मोबाईल : 9454417524

शुभाशंसा

संस्कृतसाहित्याकाशे महाकविभारविविरचितस्य कालजयिमहाकाव्यस्य स्थानं महोच्चमस्तीति विदन्ति समीक्षकाः। सत्यमेवोक्तं यद् **भारवेरर्थ-गौरवमिति**। महाकविना लोकजीवनस्य सर्वाण्यपि तत्त्वानि महाकाव्ये यथायथं निबद्धानि सन्ति। अस्य वैशिष्ट्यं ज्ञात्वैव समीक्षकैः महाकाव्यत्र्यामस्य स्थानं दत्तं वर्तते। वस्तुतः महाकाव्यमिदं नीतिशास्त्रीयतत्त्वसंवलितमिव विलोक्यते। अस्मिन् महाकाव्यं पदे पदे औचित्यं विभवयन्ति भावका इति को न जानीते पण्डितः। इदमेव औचित्यमादाय प्रबुद्धेन शोधकर्त्रा अस्मदग्रजकल्पेन समादरणीयेन डॉ० सुरेन्द्रशर्मणा सुशीलाख्येन सप्तसु अध्यायेषु शोधप्रबन्धो महता श्रमेण व्यलेखि।

किरातार्जुनीयमहाकाव्ये औचित्यविमर्श इत्याख्यं शोधप्रबन्धमवलोक्य प्रसीदति मदन्तःकरणम्। विदुषा लेखकेन औचित्यपूर्णमेव अध्यायविभागं कुर्वता कार्यमिदं सम्पादितमस्तीति वक्तुं शक्नोमि। प्रथमाध्याये औचित्यसिद्धान्त-विकासः, द्वितीये महाकाव्यगतौचित्याकलमापदण्डः, तृतीये किरातार्जुनीयस्य प्रबन्धार्थौचित्यम्, चतुर्थे भाषापदगतौचित्यम्, पञ्चमे व्याकरणगतौचित्यम्, षष्ठे लोकाचारगतौचित्यम्, सप्तमे च मनौवैज्ञानिकप्रक्रियामूलकरसादिगतौ-चित्यम्।

महाकविर्भारविरसाधारणो महाकविरस्ति। किरातार्जुनीयस्य प्रथमे सर्गे एव नीतिगतं स्वकीयं भावमुपस्थापयन् पाठकान् विज्ञापयति यदस्य लक्ष्यं

कथानकव्याजेन नीतिशिक्षणमपि वर्तते। आरम्भ एव गुप्तचरस्य वनेचरस्य वर्णिलिंगिनः आगमनमिदं सूचयतीवेति न संशयः। पुनश्च प्रथमसर्ग एवास्य महाकवे रचनौचित्य प्रत्यक्षमिव। यथा

हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः। 4
प्रवक्तुमिच्छन्ति मृषा हितैषिणः। 2
सदानुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः। 5
निरस्तनारीसमया दुराधयः। 28

किरातार्जुनीयस्य औचित्यं सर्वजनश्लाघ्यं वर्तत इवेति। प्रकृतिसुकुमारो महाकविर्नवपदप्रयोगकुशलः परवर्तिकवीनामादर्शो वर्तते। प्रसंगानुकूलवर्णनमयं न क्वचिदपि जहाति। सर्वत्रैव अस्य सूक्ष्मेक्षिका आह्लादकरीति विज्ञायते। वस्तुतः दुर्योधनः प्रजासु स्वनीतिं केन प्रकारेण प्रसारयतीति मनोज्ञं वर्णनं सर्वथा अस्य महाकवेः औचित्यमेव वर्तते। यथा–

तथापि जिह्मः स भवञ्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन् भूतिमनार्यसंगमाद्वरं विरोधोपि समं महात्मभिः॥1/8

महाकविरयम् आतपत्रभारविरिति कथ्यते। अयं किरातार्जुनीये महाकाव्यं वर्णयति यत् यथा विषमो जलाशयः सोपाननिर्माणेन स्नानाय सुगमो भवति, तथैव समस्यानां विकटावस्थायां विषमनीतिशास्त्रमपि यदि केनचिद् विदुषा व्याख्याकारेण व्याख्यायते चेत् सुगमतया प्रवेष्टुं शक्यते। यथा–

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृतवर्त्म यः। 2/3

अनेन प्रतीयते महाकविना महाकाव्यव्याजेन नीतिशास्त्राणामेव काव्यमयं व्याख्यानं विधाय लोकोपकारो विहितो वर्तते इति। एतादृशे महनीये महाकाव्ये औचित्यपूर्णशोधकार्यं कृतवते भवते श्रीसुशीलशर्मणे हार्दिकं शुभाशंसनं ददानो भवतो निरन्तरमुत्कर्षं कामयते।

–शिवाकान्त द्विवेदी
जिलाधिकारी, बरेली

पुरोवाक्

काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तपराम्परा में ''औचित्यसिद्धान्त'' माला के सुमेरु जैसा है। यह सिद्धान्त अपने से पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी सिद्धान्तों में अनुस्यूत है। इस सिद्धान्त को रस, अलङ्कार, रीति, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सभी काव्यशास्त्रीय सिद्धान्त औचित्य के साथ ही स्वीकार हैं। यह औचित्य सिद्धान्त भगवद्वाची ''अच्युत'' को भी इसी भाव में स्वीकार करता है कि वे भगवान् कभी भी औचित्य से च्युत नहीं होते, फलतः वे ''अच्युत'' कहलाते हैं। सर्वप्रसिद्ध है– **अच्युताय नमस्तस्मै परमौचित्यकारिणे।**

सम्पूर्ण सृष्टि में कोई भी कृतिकार अथवा भाष्यकार औचित्यदृष्टि का जितनी पटुता से प्रयोग करेगा उतनी ही उसकी प्रशंसा होगी। वस्तुतः औचित्य सर्वत्र विद्यमान है इसीलिए तो सृष्टि सुन्दर है, प्रशंसनीय है और मन में बसाने योग्य है।

जहाँ तक काव्यसमीक्षा के मानदण्डों में औचित्य पालन की चर्चा है वह तो इस रूप में देखी जा सकती है कि आचार्य क्षेमेन्द्र के द्वारा औचित्य के विचार को इतनी प्रभावोत्पादकता के साथ प्रस्तुत किया गया कि इसे सिद्धान्त माना जाने लगा। यही कारण है कि काव्यशास्त्र के प्रमुख छः सिद्धान्तों में औचित्यसिद्धान्त सर्वानुमोदित, सार्वकालिक तथा सार्वभौम सिद्धान्त है।

आदिकवि महर्षि वाल्मीकि से लेकर अद्यतन कृतिकारों तक औचित्यतत्व का निरन्तर अनुपालन किया गया है। तभी तो औचित्यचिन्तन से भरपूर कृतियों का ही सर्वत्र समादर होता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने ग्रन्थरत्न ''औचित्यविचारचर्चा में केवल २७ उपादानों की चर्चा की है शेषसम्भावित उपादानों के विषय में उन्होंने कह दिया–

''**अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम्**''। इसी का सत्परिणाम यह है कि परवर्ती कृतिकारों ने अपनी कृतियों में युगानुरूप और भी अनेक औचित्योपादानों का खुलकर प्रयोग करके औचित्यतत्व की प्रभुसत्ता का भरपूर समर्थन किया है।

हमने किरातार्जुनीय महाकाव्य में औचित्य का विमर्श करते समय आचार्य क्षेमेन्द्र के सभी २७ उपादानों के तथा कतिपय अन्य औचित्यों के आधार पर महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य में औचित्य का विमर्श किया है।

सर्वप्रथम **प्रथम विमर्श** में हमने भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धान्त का विकास किस प्रकार हुआ? अपने-अपने युग के आचार्यों ने औचित्य को किस नाम से किस रूप में और कितना स्वीकार किया है- इसकी संक्षिप्त चर्चा की है।

द्वितीय विमर्श में महाकाव्यगत औचित्य आकलन के मानदण्डों की विस्तृत चर्चा है। यहाँ हमने क्षेमेन्द्रकृत औचित्यभेदों को पाँच भागों में वर्गीकृत किया है-

क- प्रबन्धार्थौचित्य

ख- भाषागत पदवाक्यौचित्य

ग- प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरणिक इकाईगत औचित्य

घ- लोकाचारगत औचित्य

ङ- मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामूलक रसादिगत औचित्य

हमारी मान्यता है कि काव्य के महत्वपूर्ण तत्व औचित्य को स्थिर करके साहित्य की किसी भी विधा की समीक्षा की जा सकती है।

तृतीय विमर्श में प्रबन्धार्थौचित्य की चर्चा है। सम्पूर्ण किरातार्जुनीय महाकाव्य में गुम्फित अनेक प्रबन्धार्थों के कारण महाकाव्य कितना सौन्दर्यवर्धक बना है- इसकी चर्चा औचित्य दृष्टि से की गई है। महाकाव्य में प्रथम सर्ग से चतुर्थ सर्ग तक के सभी प्रबन्धार्थ एक दूसरे के पोषक होने से बहुत औचित्यपरक हैं किन्तु पञ्चम सर्ग से दशम सर्ग तक के अनेक प्रबन्धार्थ महाकाव्य की कुछ परम्पराओं का निर्वाह मात्र करते

प्रतीत होते हैं। इन छः सर्गों में महाकवि भारवि ने ऋतुओं, पर्वतों, नदियों तथा वृक्षों की शोभा का अतिविस्तृत वर्णन करके अपने वैदुष्य का भरपूर परिचय दिया है। यहाँ मूल कथानक बहुत मन्थर गति से बढ़ा है। पाठक का मन कथारस से हट गया है फलतः यहाँ प्रबन्धार्थानौचित्य होता चला गया है जबकि आगे के प्रबन्धार्थों में कथानक बहुत औचित्यपरक होकर चला है।

चतुर्थ विमर्श में भाषा की न्यूनतम इकाई पद तथा वाक्य के औचित्य पर विचार करते हुए किरातार्जुनीय महाकाव्य के कतिपय पद और वाक्यों के औचित्य से आने वाले काव्योत्कर्षों की चर्चा की है। महाकवि भारवि पद-वाक्य के औचित्य प्रयोग में बहुत अधिक कुशल हैं उन्होंने कथावस्तु को आगे बढ़ाने वाले अनेक पदों तथा वाक्यों का चमत्कारी ढंग से अधिकतम प्रयोग किया है।

पञ्चम विमर्श में प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरणिक इकाईगत औचित्यों के आधार पर महाकवि भारविकृत किरातार्जुनीय महाकाव्य की समीक्षा की गई है। क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात तथा काल (भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकालादि) के उचित प्रयोग से भारवि ने कथावस्तु को कितनी सजीवता प्रदान की है? इसकी व्यापक और गम्भीर चर्चा है।

षष्ठ विमर्श में लोकोचारगत औचित्य, जैसे ऋतुवर्णन रूप कालौचित्य और क्षणविशेषगत कालौचित्य, देशौचित्य, कुलौचित्य, व्रतौचित्य, तत्वौचित्य, सत्वौचित्य, सारसंग्रहौचित्य, अवस्थौचित्य तथा आशीर्वादौचित्य आदि उपादानों के औचित्यानौचित्य की सुन्दर चर्चा है। कहना होगा कि महाकवि भारवि लोकाचारगत सभी औचित्यों के प्रयोगों में बहुत सिद्ध एवं प्रसिद्ध हैं।

सप्तम विमर्श में मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामूलक रसादिगत औचित्यों की विस्तृत चर्चा है। रस, अलंकार आदि को काव्य की आत्मा कहने वाले अनेक आचार्यों तथा महाकवियों ने औचित्यविचार की चर्चा में कितनी सार्थक भूमिका निभाई है, इसका विवेचन हमारे इस विमर्श का

मुख्य प्रतिपाद्य है। महाकवि भारवि ने रस, अलंकार आदि के प्रयोग में अनेक भावानुभूतियों को अभिव्यञ्जित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है। पाठक की मनोभूमि पर किस रसादि के प्रयोग से सौन्दर्य उभरा है इसकी व्यापक चर्चा हमने इस विमर्श में की है।

ग्रन्थ के अन्त में ''**उपसंहृति**'' के अन्तर्गत किरातार्जुनीय महाकाव्य में औचित्य की दृष्टि से किया गया विमर्श बिन्दुशः प्रस्तुत है।

कृतज्ञताज्ञापन

प्रस्तुत ग्रन्थलेखन के समय मुझे उन सभी पूज्यों, विद्यावानों तथा अत्यन्त आत्मीयों का सादर-सप्रेम स्मरण हो रहा है जिन्होंने अपने शुभाशीर्वादों से तथा रचनात्मक सहयोगों से मुझे निरन्तर उत्साहित किया। सर्वप्रथम अपने प्रातःस्मरणीय माता-पिता और अपने शब्दगुरुओं को मैं सम्पूर्ण श्रद्धा-निष्ठा से वन्दन करता हूँ जो इस ऋष्यर्चा को पुस्तकाकार रूप में देखना चाहते थे किन्तु तब यह सम्भव नहीं हो सका।

बिना सुयोग्य मार्गदर्शन के यह कार्य सम्भव ही नहीं होता यदि मेरे ऊपर मेरे शब्दगुरु पूज्यप्रवर पितृतुल्य मामाजी सम्प्रति शिवसायुज्यप्राप्त आचार्य रामनाथ शर्मा 'सुमन' जी (तत्कालीन अध्यक्ष, उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान) का वरदहस्त न होता। उन्होंने प्रतिपल मुझे अपने शुभाशीर्वादात्मक प्रेम से अभिसिञ्चित ही किया, उनके प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करने के लिए मेरे पास शब्दसामर्थ्य नहीं है। अन्तस्तल से उनको सादर प्रणाम।

इस अनुसन्धानात्मक कार्य के लिए दिशा-निर्देश करने वालों में अद्यतन भी शब्दगुरु की भूमिका निभाते आ रहे हैं- परमश्रद्धेय डॉ० विशनलाल गौड़ जी "व्योमशेखर" (पूर्व प्राचार्य, अतर्रा पो० ग्रे० कालिज अतर्रा, बाँदा, उ०प्र०)। गर्व के साथ मैं कहूँगा कि ऐसे तलस्पर्शी मनीषी और क्रान्तिगीतों के उद्गाता साहित्यकार डॉ० गौड़ जी सम्पूर्ण जनमानस को भारतीय वैभव से तथा राष्ट्रीय स्वाभिमान से सुसम्पन्न देखना चाहते हैं। इन महामना के प्रति मैं तीनों कालों की कृतज्ञता सश्रद्ध ज्ञापित करते हुए इनको वन्दन करता हूँ।

उपरिलिखित महापुरुषों के पश्चात् मैं अकिञ्चन अपने परम पूज्यपाद सद्गुरुदेव के प्रति अपना आधमर्ण्य स्वीकारता हूँ जिनकी कृपाकरुणा से यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है वर्तमान युग के सिद्ध एवं प्रसिद्ध महाकवि कविकुलरत्न जगद्गुरु जी, पद्मविभूषण से तो सम्मानित हैं ही इक्कीसवीं शती के आठ महाकाव्यों के प्रणेता और प्रस्थानत्रयी के भाष्यकार भी हैं। ऐसे पूज्यपाद सद्गुरुदेव श्रीचित्रकूटतुलसीपीठाधीश्वर जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी रामभद्राचार्य जी महाराज मेरे प्राणधन हैं। इन्होंने अपना **शुभाशीर्वाद** देकर मुझे कृतार्थ भी किया है और सनाथ भी। मैं इनके श्रीचरणों में सप्रणिपात नमो राघवाय निवेदित करता हूँ।

इस स्वाध्याय यज्ञ में निरन्तर उत्साहित एवं आनन्दित करने वाले अन्य विपश्चितों में अभिनव भरत आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी, सुप्रसिद्ध मनीषी आचार्य पं० बलदेव उपाध्याय, नरवर संस्कृत महाविद्यालय के पूर्व प्राचार्य पं० बाँकेलाल त्रिवेदी, दिल्ली विश्वविद्यालय में हिन्दी विभागाध्यक्ष डॉ० चन्द्रहंस पाठक, डॉ० शंकरदेव अवतरे, आचार्य दिवाकर शर्मा जी के प्रति भी मैं विनीत भाव से आभार व्यक्त करता हूँ।

मैं हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ अर्चनीय आचार्य एवं मेरे वन्दनीय गुरुभ्राता प्रो० अशोक तिवारी जी, पूर्व व्याकरण विभागाध्यक्ष जगद्गुरु रामानन्दाचार्य विश्वविद्यालय, जयपुर) प्रो० मुरलीमनोहर पाठक (माननीय कुलपति, श्री लालबहादुर संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली), प्रो० श्रीनिवासवरखेडी (कुलपति, केन्द्रीयसंस्कृतविश्वविद्यालय, नई दिल्ली), प्रो० शिवशंकर मिश्र (शोध-विभागाध्यक्ष, श्री लालबहादुर संस्कृत विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) प्रो.महावीर अग्रवाल (प्रति कुलपति, पतंजलि विश्वविद्यालय, हरिद्वार), युवा संस्कृत विद्वान् डॉ० कृष्णकेशव षडङ्गी (भुवनेश्वर) तथा श्रीवर्य शिवाकान्त जी द्विवेदी (जिलाधिकारी जनपद बरेली, उ०प्र०) के प्रति जिन्होंने इस कार्य के पूर्ण होने पर अपनी मंगलकामनाएँ प्रेषित की हैं।

मेरा यह कर्तव्य अपूर्ण ही रह जाएगा यदि मैं अपनी सहधर्मिणी श्रीमती कमलेश शर्मा, अनन्यमित्र माधव शर्मा, सत्येन्द्र शर्मा अपने अनुज उपेन्द्र शर्मा, सुप्रसिद्ध कवि मेरे अनुज प्रो० वागीश 'दिनकर', सुपुत्री श्रीमती ऋचा, श्रीमती गार्गी, सुपुत्रवधु श्रीमती सुरभि, सुपुत्र शाश्वत तथा सुपौत्री आयु० मैत्रेयी के प्रति हार्दिकी मङ्गलाशंसाएँ व्यक्त न करूँ। इन सभी के द्वारा प्रदत्त उत्साह एवं लग्न से यह कार्य आप सब सुधी पाठकों के सम्मुख ग्रन्थाकार रूप में प्रस्तुत हुआ है। सुधी पाठकों के सुझावों का हार्दिक स्वागत है। नमो राघवाय।

विदुषामनुचर
डॉ० सुरेन्द्र शर्मा 'सुशील'

किरातार्जुनीय महाकाव्य का संक्षिप्त इतिवृत्त

साहित्य जगत् में बृहत्त्रयी के अन्तर्गत किरातार्जुनीय महाकाव्य का बहुत सम्मान है। महाकवि आत्पत्र भारवि द्वारा प्रणीत यह ग्रन्थरत्न अठारह सर्गों में महाभारतकालीन राजा युधिष्ठिर तथा उनके चारों भाई सहित देवी द्रौपदी के द्वैतवन में निवास करने से लेकर अर्जुन द्वारा भगवान् शंकर से पाशुपतास्त्र प्राप्त करने तक का इतिवृत्त महाकाव्योचित शैली में वर्णन करता है। प्रस्तुत ग्रन्थ के अध्ययन से पूर्व किरातार्जुनीय महाकाव्य का संक्षिप्त इतिवृत्त स्पष्ट करना हमारा प्रथम दायित्व है। तो, लीजिए जानिए किरातार्जुनीय महाकाव्य में कथावस्तु है क्या?

महाराज युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा देवी द्रौपदी के साथ द्वैतवन में निवास कर रहे थे, इन्होंने अपने विरोधी दुर्योधन का राजवृत्त जानने के लिए एक वनेचर को भेजा था, वह वनेचर लौटकर द्वैतवन में आया और दुर्योधन के नीतिपूर्वक शासन का, उसके राजोचित उत्कर्ष का उसके राज्य में कृषिसम्पन्नता एवं प्रजा की प्रसन्नता आदि का वर्णन करके दुर्योधन को जीतने का उपाय युधिष्ठिर निवेदित करता है।

सर्वप्रथम द्रौपदी अपने विरोधी दुर्योधन के उद्यमी होने का समर्थन करती है और युधिष्ठिर के शान्तिपथ के प्रति पूरी गर्जना करती है। आज द्रौपदी वनवासी भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव के सामान्यतम जीवन बिता रहे स्वरूप को बहुत तड़ित शब्दों में कह रही है। इन पाण्डवों की दुर्दशा बताकर द्रौपदी युधिष्ठिर के धैर्य और सन्तोष को अनुचित बता रही है।

मानिनी द्रौपदी की सभी बातों का खुला समर्थन करते हुए भीमसेन ने भी युधिष्ठिर को अविलम्ब उद्योगशील होने का परामर्श दिया।भीमसेन की उक्तियों में पुरुषार्थ करने की शीघ्रता भी बहुत सशक्त शैली में महाकवि भारवि ने व्यक्त की है।

अपने दोनों सहयोगियों का वक्तव्य सुनकर राजा युधिष्ठिर उनका समर्थन तो करते हैं किन्तु विचारपूर्वक कार्य करने पर बहुत बल देते हैं। असमय में किया गया कोई भी कार्य युधिष्ठिर की दृष्टि में अनुचित ही है। वे राजोचित नीतियों में शान्ति, अनुशासन और दूरदृष्टि के प्रबल पक्षधर हैं। युधिष्ठिर के मत में जब तक वनवास की अवधि है तब तक शान्ति के साथ समय बिताना ही उचित है।

महाराज युधिष्ठिर भाई भीमसेन को समझा ही रहे थे कि महाकवि भारवि ने अपनी प्रबन्धार्थौचिती की प्रतिभा से आप्तपुरुष महर्षि वेदव्यास जी को पाण्डवों के पक्षपाती के रूप में प्रकट कर दिया। पाण्डवों ने महर्षि का यथोचित सत्कार किया। भारवि ने भी आगामी कथानक की भूमिका के रूप में महर्षि वेदव्यास के मुख से कहलवा दिया कि– "संग्राम में विजय उसी की होती है जिसके पास सैन्यबल और अस्त्रादि का बल है।" विपक्ष के महापराक्रमी योद्धाओं के सशस्त्रधारी और सबल होने का ध्यान दिलाते हुए व्यास जी महापराक्रमशाली तथा नरावतार अर्जुन को विजयश्री की प्राप्ति का उपायात्मक मन्त्र निर्दिष्ट करते हैं। उनका निर्देश है कि "इन्द्रपुत्र अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर जाकर देवराज इन्द्र को प्रसन्न करे, वहीं मुनिवृत्ति से रहकर तपस्या करे।" ऐसा कहकर एक यक्ष को अर्जुन की यात्रा का दिग्दर्शक नियुक्त करके महर्षि वेदव्यास अन्तर्धान हो जाते हैं। यक्ष तैयार है अर्जुन को ले चलने के लिए। तभी त्वरित उद्यम के लिए उद्यत अर्जुन को द्रुपदात्मजा द्रौपदीतड़ित चेतना भरी भाषा में कहती है–

हे पार्थ! हे क्षत्रियोचित पौरुषसम्पन्न अर्जुन! हे धनञ्जय! आप अपनी कार्यसिद्धिपूर्ण होने तक हम लोगों के विरह से व्यथित नहीं होना, जाओ, तेजस्वियों की मानहानि का प्रतिकार करने के लिए तपस्या करो और हम सबका मनोरथ पूर्ण करो। अर्जुन भी प्रतिशोधार्थी बनकर आयुध धारण करके तपस्यार्थ चल पड़ते हैं।

महाकवि भारवि ने अब महाकाव्योचित मर्यादा तथा मान्यताओं का पालन करते हुए अपने चरितनायक अर्जुन के सम्मुख शरद्ऋतु का मनोहारी वर्णन किया है। यक्ष-अर्जुन सम्वाद के चलते अर्जुन को सर्वप्रथम सुदृढ़ता की याद दिलाने वाले हिमालय के दर्शन होते हैं। हिमाद्रि की अलौकिक शोभा तपस्वी अर्जुन को अद्भुतानन्द देती है। यहाँ पर इन्द्रकील पर्वत की उपत्यकाएँ अत्यन्त सुन्दर हैं। पार्थ के सहयात्री यक्ष का परामर्श है कि इसी इन्द्रकील पर्वत पर हे अर्जुन! आप तपस्या करें, आपका कल्याण होगा। यक्ष के स्वस्थान चले जाने पर अर्जुन इन्द्रकील पर्वत पर घनघोर तपस्या करने लगे।

इधर देवराज इन्द्र ने अर्जुन के तपोऽनुष्ठान में दृढ़ता की परीक्षा लेने के लिए पहले वनेचरों को फिर स्वर्ग की अप्सराओं को भेजा, किन्तु अत्यन्त तेज से युक्त एवं अप्सराओं के मन के प्रतिकूल अर्जुन हिमवान्वत् सुदृढ़ ही रहे। अप्सराओं ने इन्द्र से अर्जुन के लोकोत्तर तपोऽनुष्ठान की सारी बातें कहीं। अब अर्जुन की जितेन्द्रिया का समाचार सुनकर देवराज इन्द्र स्वयं अपने पुत्र अर्जुन की परीक्षा लेने के लिए इन्द्रकील पर्वत पर आए। अर्जुन से सत्कृत होकर देवराज इन्द्र उन्हें सदुपदेश देते हैं। पिता का उपदेश सुनकर अर्जुन अपना क्षत्रियोचित लक्ष्य इन्द्र से कहते हैं कि मैं अपने अग्रज युधिष्ठिर की आज्ञा से और महर्षि वेदव्यास से आदिष्ट होकर इस दुस्तर तप में प्रवृत्त हुआ हूँ। सभी पाण्डवों के साथ शत्रु दुर्योधन द्वारा

किए गए अपमान की भी आंशिक चर्चा करते हुए अर्जुन वीरोचित स्वाभिमान की भी सुन्दर चर्चा करते हैं। तत्पश्चात् देवराज इन्द्र प्रसन्न होकर अर्जुन को विजयप्राप्ति के लिए भगवान् शंकर की आराधना करने का उपदेश देकर अन्तर्धान हो जाते हैं।

अपने पिता इन्द्र की आज्ञानुसार अब अर्जुन भगवान् शंकर के कठोरतम आराधनव्रत में प्रवृत्त हो जाते हैं। तपस्वी अर्जुन के तपःप्रभाव से प्रसन्न होकर कुछ महर्षि शिवजी की शरण में पहुँचते हैं। शंकर स्तुति के पश्चात् महर्षियों से भगवान् शंकर ने कहा– आप आश्वस्त रहें, मैं किरातवेष धारण करके अपनी किरातसेना (प्रमथगण) लेकर आ रहा हूँ।

सर्वप्रथम मूकनामक दानव वराह का रूप बनाकर अर्जुन की ओर आता है उसके पीछे किरात सेना और किरात वेषी शंकर आते हैं। अर्जुन को वराह पर सन्देह होता है वह उसे मायावी दैत्य समझकर मारना चाहता है। उधर सेनापति किरात ने वराह पर अपना बाण चला दिया। यहाँ किरातीबाण वराह के शरीर को बेधता हुआ पृथ्वी में घुस जाता है। इधर अर्जुन ने भी अपना बाण वराह पर चला दिया। वराह धराशायी हुआ। अर्जुन अपना बाण लेने के लिए आगे बढ़े, तभी किरात सेनापति ने अपना एक वनेचर भेजकर सन्देश दिया कि– यह बाण किरात का है इसे आप लौटा दें। वनेचर की गर्वोक्ति भरे वाक्यों को सुनकर अर्जुन ने सक्रोध गम्भीर वाणी में उत्तर देते हुए कहा– "आपके स्वामी का यह बाण नहीं है यदि वे अस्त्र ही लेना चाहते हैं तो मैं दूसरा अस्त्र दे सकता हूँ। वनेचर अपने सेनापति की ओर पुनः लौट आया। अब किरातसेना अर्जुन की ओर गरजती हुई चलने लगी। सेनापति किरात भी पिनाक नामक धनुष धारण करके अर्जुन से युद्धार्थ चल पड़ा। अर्जुन की बाण वर्षा से किरात सेना मूर्छित हो गई। तपस्वी स्वभाव वाले अर्जुन को सैनिकों पर दया आ गई।

अर्जुन अब कार्तिकेय से लड़ने के लिए चले, सेना फिर भागने लगी कार्तिकेय अपने सैनिकों को अभयदान देते हैं किन्तु सेना के सैनिक भयभीत हैं।

अब अर्जुन और किरातवेषी शंकर का तुमुल-संग्राम प्रारम्भ होता है। दोनों ओर से भीषण बाणों की वर्षा होने लगी। सभी देवगण ऋषिगण तथा प्रमथगण चकित हैं। यहाँ महाकवि भारवि ने किरात और अर्जुन के युद्ध का बहुत तड़ित वर्णन किया है। अनेक प्रकार के अस्त्रों का प्रयोग दोनों ओर से हो रहा है। कभी किरात हतप्रभ और कभी अर्जुन हतप्रभ। अब अर्जुन के सभी बाण समाप्त हो गए और वे शिलावृष्टि करने लगे। अब दोनों का बाहुयुद्ध प्रारम्भ हुआ। मुष्टियुद्ध हुआ। दोनों के शरीर रक्त से लथपथ हो गए हिमाद्रि भी इस विलक्षण युद्ध को देखकर कम्पित सा होने लगा। बाहुयुद्ध के चलते किरात सेनापति जो शंकर ही थे, आकाश में उछले, अर्जुन ने उनके चरणों को पकड़कर प्रतिवाद करना चाहा। बस, फिर क्या था, कलात्मक और रुचिकर मोड़ आ गया इस कथा में। अर्जुन को चरण पकड़ते देख किरातवेषी भगवान् शंकर ने अर्जुन को अपने कण्ठ से लगा लिया। हो गए आशुतोष प्रसन्न और अर्जुन ने कर लिया प्रणाम अपने परमाराध्य शंकर जी को। अुर्जन के बाण, कवच, चर्म आदि यथावत् सुशोभित होने लगे। आकाश से पुष्पवर्षा होने लगी। अर्जुन ने भी तपस्या के सुफल को प्राप्त कर भगवान् शंकर की बहुत सुन्दर स्तुति की। अर्जुन ने शंकर जी से अभीष्ट वर माँगते हुए कहा- "हम सब शत्रुवर्ग पर विजय प्राप्त कर सकें ऐसा साधन देने की कृपा करें।" शिवजी ने भी अर्जुन को सान्तवना देकर गुप्त रहस्य के साथ पाशुपतास्त्र दिया और धनुर्विद्या प्रदान की। इन्द्रादि ने भी अपने अमोघ आशीर्वाद देकर अर्जुन को धन्य धन्य कर दिया। अब अर्जुन पाशुपतास्त्र लेकर अपने अग्रज युधिष्ठिर सहित सभी भाइयों और द्रौपदी के निकट द्वैतवन में आ गए।

इस प्रकार से भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य की कथावस्तु का सविस्तार जान लेने के बाद यह अतिरिक्त रूप से कथन करने की आवश्यकता नहीं रह जाती है कि यह किरातवेषी पशुपति शिव और अर्जुन के मध्य हुआ दिव्य संग्राम ही वह केन्द्र बिन्दु है जिसके आधार पर महाकवि भारवि ने अपने इस महाकाव्य को ''किरातार्जुनीयम्'' नाम दिया है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य
में
औचित्य विमर्श

卐 श्रीः 卐

प्रथम विमर्श

भारतीय काव्यशास्त्र में औचित्य सिद्धान्त का विकास

भारत की काव्यशास्त्रीय परम्परा में औचित्य तत्व को सैद्धान्तिक रूप देने का एक मात्र श्रेय यद्यपि आचार्य क्षेमेन्द्र को ही है तथापि इस तत्व का प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष दृष्टि से विचार हमें आचार्य भरत (२०० विक्रमपूर्व) से ही दिखाई देता है। काव्य के प्रमुख अंग नाटक का विवेचन करने के कारण आचार्य भरत ने अभिनय के प्रसंग में अप्रत्यक्ष रूप में औचित्य का महत्व स्वीकार किया है। आचार्य भरत के परवर्ती आचार्यों में किसी ने गुण के प्रसंग में तो किसी ने दोषपरिहार के प्रसंग में, तो कुछ ने प्रत्यक्ष नाम लेकर तथा कुछ ने अप्रत्यक्षतः औचित्य तत्व की सत्ता स्वीकार अवश्य की है। भारतीय हों अथवा पाश्चात्य सभी समीक्षक औचित्य को काव्य का महनीय एवं अनिवार्य तत्व मानते हैं। अपने इस कथन की पुष्टि के लिए हम अत्यन्त संक्षेप में आचार्य भरतमुनि से लेकर आचार्य क्षेमेन्द्र तक प्रमुख आलंकारिकों का औचित्य-विचार प्रस्तुत कर रहे हैं :

आचार्य भरत मुनि –

आचार्य भरत को औचित्य सिद्धान्त का यदि उद्भावक कहा जाय तो अनुपयुक्त न होगा क्योंकि इन्होंने औचित्य को अनुरूप, अनुसार, यथारूप, यथाविधि व यथावसर आदि शब्दों से अभिहित करके औचित्य की आवश्यकता स्वीकार की है तथा परवर्ती आचार्यों के लिए नवीन दिशा भी दी है। उल्लेखनीय है कि औचित्य की मौन रूप में स्वीकृति देने वाले आचार्य भरत ने रस, भाव व अभिनय आदि के प्रसंग में लोक को ही परम प्रमाण मानते हुए निर्देश किया है कि लोक सिद्ध वस्तु सुतरां सिद्ध होती

है। नाटक की उत्पत्ति लोक के स्वभाव से होती है। इसीलिए नाट्य प्रयोग में प्रमाण यदि कोई हो सकता है तो वह लोक ही है–

लोकसिद्धं भवेत् सिद्धं नाट्यं लोकस्वभावजम्।
तस्मान्नाट्यप्रयोगे तु प्रमाणं लोक इष्यते।।

भरत, ना० शा०, २६.११३

अभिनय के प्रसंग में भरत मुनि ने कहा है कि अवस्था के अनुरूप वेश होना चाहिये। वेश के अनुरूप गति तथा क्रिया होनी चाहिये; गति प्रचार के अनुरूप पाठ्य और पाठ्य के अनुरूप अभिनय होना चाहिये–

वयोऽनुरूपः प्रथमस्तुवेशो वेशानुरूपश्च गतिप्रचारः।
गतिप्रचारानुगतं च पाठ्यं पाठ्यानुरूपोऽभिनयश्च कार्यः।।

भरत, ना० शा०, १४.६८

आचार्य भरत मुनि ने इसी प्रकार के अनेक विधान और अनुविधान किये हैं जो औचित्य का ही प्रतिष्ठापन करते हैं। औचित्य दृष्टि के लिए आचार्य भरत का यह योगदान किस समीक्षक को आकृष्ट नहीं करेगा कि औचित्य सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र ने भी अपने ग्रन्थ ''औचित्यविचारचर्चा'' में मेखला, केयूर, हार व नूपुर आदि बाह्य शारीरिक आभूषणों के यथास्थान धारण करने के औचित्य का जो सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया है वह भरत मुनि के एक पद्य का भावानुवाद ही तो है। आचार्य भरत का कथन देखिए–

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैवोपजायते।।

भरत, ना० शा०, २१.७१

आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं –

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धननेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन विना रुचिं प्रतनुते नालंकृतिर्नो गुणाः।।

क्षेमेन्द्र, औचित्य०, का० ६, निदर्शन।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य भरत मुनि औचित्यवादियों के प्रेरणास्त्रोत हैं।

आचार्य भामह –

आचार्य भामह अलंकारवादी आचार्य होते हुए भी अपने 'काव्यालंकार' में औचित्य को 'न्याय्य' तथा 'युक्तता' जैसे शब्दों से अभिहित करते हुए आचार्य भरत की ही भाँति औचित्य का नियामक लोकस्वभाव को मानते हैं:

युक्तं लोकस्वभावेन रसैश्च सकलैः पृथक्।

भामह, काव्या० १.२१

दोषपरिहार की चर्चा करते हुए आचार्य भामह का कथन है कि 'दुष्टउक्ति भी सन्निवेशविशेष के कारण उसी प्रकार शोभावर्धक हो जाती है जिस प्रकार माला के मध्य रखा गया नील पलाश–

सन्निवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपि शोभते।
नीलं पलाशमाबद्धमन्तराले सृजामिव।।

भामह, काव्या० १.५४

साथ ही आचार्य भामह की मान्यता है कि असाधु वस्तु भी आश्रय के

सौन्दर्य से इस प्रकार अत्यन्त सुन्दर हो जाती है जिस प्रकार काजल स्वभावतः काला होता हुआ भी सुन्दरी के नयनों में अत्यन्त सुन्दर लगता है।

किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद्धत्ते शोभामसाध्वपि।
कान्ताविलोचनन्यस्तं मलीमशमिवाञ्जनम्।।

भामह, काव्या० १.५५

पुनरुक्ति दोष के परिहार प्रसंग में भामह ने औचित्य को स्वीकार करते हुए कहा है कि 'पुनरुक्ति' दोष होते हुए भी भय, शोक, असूया, हर्ष तथा विस्मय आदि के संयोग से दोष नहीं रहता। अर्थात् औचित्य के कारण दोषों में दोषत्व नहीं रहता।

भयशोकाभ्यसूयासु हर्षविस्मययोरपि।
यथाह गच्छ गच्छेति पुनरुक्तं न तद्विदुः।।

भामह, काव्या० ४.१४

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि यद्यपि आचार्य भामह ने औचित्य का साक्षात् अभिधान नहीं किया तथापि औचित्य को काव्य का महनीय तत्व अवश्य स्वीकार किया है।

आचार्य दण्डी –

आचार्य भामह की ही भाँति दोष परिहार के प्रसंग में आचार्य दण्डी ने भी औचित्य की आवश्यकता पर पर्याप्त बल दिया है। उनका कथन है कि अपार्थ दोष होते हुए भी अवस्था विशेष से गुण रूप में परिणत हो जाता है।

समुदायार्थशून्यं यत् तदपार्थमितीष्यते।
उन्मत्तमत्तबालानामुक्तेरन्यत्र दुष्यति।।

दण्डी, काव्यादर्श ३.१२८

अवस्था विशेष में प्रयुक्त होकर दोष भी दोषत्व से बच जाता है। इसी की चर्चा करते हुए आचार्य दण्डी का कथन है कि वस्तु विशेष में चित्त की अत्यन्त आसक्ति होने पर विरुद्ध अर्थ का भी कथन दोष न रहकर गुण की कोटि में आ जाता है।

अस्ति काचिदवस्था सा साभिषङ्गस्य चेतसः।
यस्यां भवेदभिमता विरुद्ध्यार्थापि भारती।।

दण्डी, काव्यादर्श ३.१३२

आचार्य दण्डी की दृष्टि में कौशल के कारण सम्पूर्ण विरोध दोषत्व को छोड़कर गुणमार्ग में विचरण करने लगते हैं–

विरोधः सकलोप्येष कदाचित् कविकौशलात्।
उत्क्रम्य दोषगणनां गुणवीथीं विगाहते।।

दण्डी, काव्यादर्श ४.५७

उपर्युक्त कथनों को देखकर हम कह सकते हैं कि आचार्य दण्डी भी औचित्य के अप्रत्यक्षदर्शी आचार्य हैं।

यशोवर्मा –

काव्यशास्त्र में औचित्य शब्द के प्रथम प्रयोक्ता आचार्य यशोवर्मा ने भी नाटकीय पात्रों की प्रकृति के अनुरूप वचन, रस, अवस्था आदि के वर्णन से औचित्य की महनीयता को स्वीकार किया है–

औचित्यं वचसां प्रकृत्यनुगतं सर्वत्र पात्रोचिता
पुष्टिः स्वावसरे रसस्य च कथामार्गे न चातिक्रमः।
शुद्धिप्रस्तुतसंविधानकविधौ प्रौढिश्च शब्दार्थयोः
विद्वद्भिः परिभाव्यतामवहितैः एतावदेवास्तु नः।।

शृंगा० प्र०, भाग २ पृ० ४११

भट्टलोल्लट -

आचार्य भट्टलोल्लट नाट्यशास्त्र के टीकाकार हैं। इन्होंने काव्य में रसपोषक अर्थों का ही निबन्धन करके कवियों का ध्यान औचित्य की ओर खींचा है। प्रकृतिवर्णन के निबन्धन की चर्चा करते हुए आचार्य भट्टलोल्लट का कथन है कि– "काव्य में मज्जन, पुष्पावचय, सन्ध्या, चन्द्रोदय आदि का वर्णन सरस होते हुए भी यदि प्रकृत रस का पोषक नहीं है तो उसका व्यर्थ विस्तार नहीं करना चाहिये–

नाम निस्सीमार्थसार्थः। किन्तु रसवत् एव निबन्धो युक्तः न तु नीरसस्य इति आपराजितिः। यदाह मज्जनपुष्पावचय सन्ध्या-चन्द्रोदयादि वाक्यमिह। सरसमपिनातिबहुलं प्रकृतरसान्वितं रचयेत्।

उपाध्याय बलदेव, भा० सा० शा० भाग २ पृ० ५०

इस प्रकार का कथन भी रसौचित्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

आचार्य रुद्रट -

आचार्य रुद्रट यद्यपि अलंकारवादी आचार्य हैं तथापि रस और अलंकार के प्रसंग में औचित्य की महत्ता स्वीकार करते हुए उन्होंने औचित्यवादियों में श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया है। इन्होंने अनुप्रास अलंकार की पाँच जातियों का उल्लेख करते हुए औचित्य तत्व को ही प्रमुख निकष माना है।

एताः प्रयत्नादधिगम्य सम्यक् औचित्यमालोच्य तथार्थसंस्थम्।
मिश्राः कवीन्द्रैरघनाल्पदीर्घाः कार्यामुहुश्चैव गृहीतमुक्ताः।।

रुद्रट, काव्या० २.३२

यमक अलंकार के निवेश के प्रसंग में रुद्रट ने औचित्य की ही महनीयता स्वीकार की है।

इति यमकमशेषं सम्यगालोचयद्भिः
सुकविभिरभियुक्तैर्वस्तु चौचित्यविद्भिः।
सुविहितपदभङ्गं सुप्रसिद्धाभिधानं
तदनु विरचनीयं सर्गबन्धेषु भूम्ना।।

रुद्रट, काव्या० ३.५९

आचार्य भामह तथा दण्डी की भाँति ही दोषपरिहार के प्रसंग की चर्चा आचार्य रुद्रट ने काव्यालंकार के छठे अध्याय में विस्तार के साथ की है। उनका कथन है कि ग्राम्य दोष होते हुए भी सभ्य अर्थ में प्रयुक्त होने के कारण ग्राम्यत्व छोड़ देता है।

अर्थविशेषवशाद्वा सभ्येऽपि तथा क्वचिद्विभक्तेर्वा।
अनुचितभावं मुञ्चति तथाविधं तत्पदं सदपि।।

रुद्रट, काव्या० ६.२३

उदाहरणार्थ "हे राजन्! आपने मद जल से क्लिन्न (आर्द्र) गण्डस्थल वाले शत्रुओं के हाथियों की भयंकर छटा को किस तरह विदीर्ण कर दिया?"

कथमिव वैरिगजानां मदसलिलक्लिन्नगण्डभित्तीनाम्।
दुर्वारापि घटासौ विशाम्पते दारिता भवता।।

रुद्रट, काव्या० ६.२४

यहाँ वीररस के प्रसंग में क्लिन्न और 'गण्ड' शब्द ग्राम्यत्व के सूचक नहीं है। संक्षेप में आचार्य रुद्रट की दृष्टि में औचित्य एक व्यापक तत्व है।

आचार्य आनन्दवर्धन –

औचित्य सिद्धान्त के विकास में आचार्य आनन्दवर्धन का नाम बहुत आदर के साथ लिया जाता है इन्होंने ध्वनि को काव्य का मूल तत्व मानते

हुए भी औचित्य को बहुत व्यापक रूप में स्वीकार किया है। इन्होंने अपने विशाल ग्रन्थ 'ध्वन्यालोक' में कवियों का ध्यान औचित्य की ओर दिलाने के साथ साथ अन्य काव्यांगों में भी औचित्य की अनिवार्यता पर बहुत बल दिया है। आचार्य आनन्दवर्धन के औचित्य–विवेचन का मूल मन्त्र यह श्लोक है:

अनौचित्यादृ ऋतेनान्यद्रसभङ्गस्यकारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

ध्वन्या० ३.१५

अर्थात् रसभंग का एक मात्र कारण उसका अनौचित्य है और रस का परम रहस्य यदि है तो वह औचित्य ही है। ध्वनिवादी आचार्य होते हुए भी आनन्दवर्धन ने रस को काव्य का मूल तत्व स्वीकार किया है। यही कारण है कि उन्होंने रस–ध्वनि का विस्तार से विवेचन करके अन्य विविध काव्यांगों में भी औचित्य की अनिवार्यता स्वीकार की है। काव्य में अलंकारों का प्रयोग रस व भाव को पुष्ट करने वाला होना चाहिये तभी अलंकार का अलंकारत्व सिद्ध होता है।

गुणानाश्रित्यतिष्ठन्ति माधुर्यादीन् व्यनक्ति च।
रसांस्तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्चयोः।।

ध्वन्या० ३.६

आनन्दवर्धनाचार्य का एक विचार यह भी है कि अलंकारों का प्रयोग रसाक्षिप्त तथा अयत्नज रूप में होना चाहिये।

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौमतः।।

ध्वन्या० २.१७

किसी विशिष्ट प्रयास से उनका प्रयोग अनुचित है। सर्वप्रमुख औचित्यवादी आचार्य क्षेमेन्द्र के अलंकारौचित्य का भी मूल आधार यही है। 'आनन्द' के गुण को काव्य का 'धर्म' और रस को 'धर्मी' की संज्ञा देते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने रस व भाव के अनुरूप ही गुणों के प्रयोग का संकेत दिया है। (ध्वन्या० तृतीय उद्योत)।

पदों की सम्यक् रचना संघटना कही जाती है। रस तथा गुणों की अभिव्यक्ति में यह बहुत सहायक मानी गई है श्लोक (ध्वन्या०, ३.६)।

यहाँ संघटना पर विचार करते हुए आचार्य आनन्दवर्धन ने कहा है कि 'दीर्घसमासा संघटना तथा शब्दाडम्बर वाले अलंकारों के प्रति कवि का झुकाव नहीं होना चाहिये क्योंकि ये रसास्वादन में बाधक तत्व हैं (ध्वन्या० टीका० श्रीरामसागरत्रिपाठी, पूर्वार्द्ध पृ० ७४९)।

काव्य तथा नाटक के इतिवृत्त पर विस्तार के साथ विचार करते हुए प्रबन्ध-ध्वनि में इन्होंने कहा है कि कथानक में रसाप्लावित करने वाली घटनाओं का संयोजन उचित है। इस अंश को और अधिक स्पष्ट करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि प्रतिपादित रस से प्रतिकूल होने पर भी उत्प्रेक्षा द्वारा आयी हुई घटनाओं का परिवर्तन करना सर्वांश में उचित ही कहा जाएगा।

इति वृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्ट रसोचित कथोन्नयः।।

ध्वन्या० ३.११

रीति और वृत्ति दोनों के औचित्य पर आनन्दवर्धन ने बड़े विस्तार के साथ विचार किया है। इनका कथन है कि आचार्य भरत द्वारा दर्शित कैशिकी आदि वृत्ति अथवा उपनागरिका आदि अलंकार-जातियाँ अनुचित रूप से काव्य में प्रयुक्त होने से रसभंग का कारण होती हैं :

यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालंकारान्त-सिद्धानां उपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यं तदपि रसभंगहेतुः (ध्वन्या० २.५ पर लोचन टीका पृष्ठ ४१९)। रसौचित्य के सम्बन्ध में तो आचार्य आनन्दवर्धन के विचारों का संक्षेप यही हो सकता है कि काव्य में जो भी तत्व अथवा अंग प्रयुक्त हों वे रस-पोषक होने चाहियें क्योंकि काव्य का मूल तत्व रस है। सभी तत्व रसपोषक तभी हो सकते हैं जब उचित रूप में निबद्ध होंगे।

आनन्दवर्धनाचार्य के इस विवेचन को देखकर हम कह सकते हैं कि आंशिक चर्चा के रूप में चले आ रहे औचित्य तत्व को इन्होंने काव्य के अनेक अंगों में देखकर पर्याप्त महत्व दिया है। परवर्ती आचार्यों का सम्पूर्ण औचित्य-विवेचन ध्वनिकार के ही कथन का भाष्य कहना अनुचित नहीं होगा।

अभिनवगुप्तपाद :-

ध्वन्यालोक के मान्य टीकाकार होने से अभिनवगुप्त ने भी आचार्य आनन्दवर्धन की ही भाँति औचित्य की सत्ता को स्वीकार किया है। साथ ही आचार्य क्षेमेन्द्र के साहित्यिक गुरु होने से इन्होंने क्षेमेन्द्र का मार्ग भी प्रशस्त किया है। औचित्य के सम्बन्ध में इनके विवेचन का सार है कि काव्य में अलंकार और अलंकार्य दो पक्ष होते हैं अलंकृत करने वाले को अलंकार कहते हैं और अलंकृत किये हुए को अलंकार्य कहते हैं। अलंकार्य के अलंकार तब तक व्यर्थ हैं जब तक उनका औचित्य के साथ सम्बन्ध न हो। यथा 'किसी संन्यासी के शरीर पर कटक कुण्डलादि आभूषण हास्यास्पद होते हैं क्योंकि अलंकार्य में अनौचित्य आ जाता है फलतः वह हास्यास्पद होता है।'

तथा हि अचेतनं शवशरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति, अलङ्कार्यस्याभावात्, यति शरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति, अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्।

-ध्वन्या० २.५ पर लोचनटीका

इस संक्षिप्त विवरण से ज्ञात होता है कि अभिनवगुप्त भी औचित्य को 'सम्बन्ध' मानकर विचार करते हैं।

आचार्यकुन्तक :-

क्षेमेन्द्र से पूर्ववर्ती आचार्यों में औचित्य की परिभाषा करने वाले एकमात्र आचार्य कुन्तक हैं। इनके अनुसार '**औचित्यं वस्तुतः स्वभावोत्कर्षः**' (वक्रो० जी० २.६ वृत्ति) वस्तु के स्वाभाविक उत्कर्ष का नाम ही औचित्य है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'वक्रोक्तिजीवितम्' में जिन छः प्रकार की वक्रताओं का उल्लेख किया है वह अप्रत्यक्ष रूप में औचित्य का ही विवेचन है। (वक्रो० जी० १.१८) क्योंकि कुन्तक के मत में जो 'वक्रता' काव्य का जीवित तत्व है वह औचित्य का ही पर्याय है '**तत्र पदस्य तावत् औचित्यं बहुविधमेतदभिन्ने वक्रभावः**' (वक्रो० जी० १.५७, वृत्ति) औचित्य के वर्गीकरण को कुन्तक ने भी वृत्तौचित्य, कालौचित्य तथा प्रस्तुतौचित्य के नाम से अपनाया है। फलतः कुन्तक की दृष्टि में औचित्य काव्य का एक अनुपेक्षणीय तत्त्व है।

महिमभट्ट :-

आचार्य महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' में 'अनौचित्य' पर विचार करते हुए इसे काव्य का एक प्रमुख दोष बताया है। ये रसाप्रतीति में अनौचित्य को कारण मानते हैं। इन्होंने अनौचित्य के अन्तरंग और बहिरंग दो भेद करते हुए कहा है कि काव्य में रस से सम्बन्धित अनौचित्य अन्तरंग है तथा शब्दों से सम्बन्धित अनौचित्य बहिरंग है। बहिरंग अनौचित्य अन्तरंग है तथा शब्दों का अनौचित्य बहिरंग है। बहिरंग अनौचित्य अनेक प्रकार का होता है। (महिमभट्ट : व्यक्ति० २.१४९-१५०) महिमभट्ट के इस कथन से ज्ञात होता है कि 'रसानौचित्य' का विवेचन करके इन्होंने सम्पूर्ण दोषों को इसी में समाहित कर दिया है। फलतः इन्हें भी औचित्य तत्त्व पूर्णरूपेण अभीष्ट है।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि आचार्य भरत से लेकर आचार्य महिमभट्ट तक सभी आचार्यों ने औचित्य तत्त्व पर न्यूनाधिक दृष्टि से विचार किया है और काव्य की समीक्षा का महत्त्वपूर्ण मानदण्ड स्वीकार किया है।

औचित्य और आचार्य क्षेमेन्द्र :-

आचार्य भरत से महिमभट्ट तक जिन आचार्यों ने औचित्य का न्यूनाधिक विवेचन किया उनमें से किसी ने भी औचित्य तत्त्व को काव्य का मूलतत्त्व मानकर विचार नहीं किया और न ही इसे सिद्धान्त रूप में प्रतिष्ठित किया। ११वीं शताब्दी में काश्मीरी विद्वान् आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस अभाव की पूर्ति की और काव्य का स्थिर जीवित तत्व औचित्य को ही कहा–

''औचित्यं रससिद्धस्य स्थिरं काव्यस्यजीवितम्''

औचित्य० का० ५

ऐसा कहकर अन्य सभी अंगों में औचित्य की व्यापकता को आचार्य क्षेमेन्द्र ने सिद्ध किया। जैसा कि हम आरम्भ में ही औचित्य दृष्टि का महत्व बताते हुए स्पष्ट कर चुके हैं कि **आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने से पूर्व चले आ रहे किसी काव्यतत्व का खण्डन नहीं किया अपितु सबका सम्मान करते हुए औचित्य तत्व को उन सब में अनुस्यूत कर दिया।** क्षेमेन्द्र ने इस महनीय कार्य के साथ साथ काव्य के बहिरंग पक्ष पर भी विस्तार से विचार किया है। उनके औचित्य-विवेचन को दर्शाने वाली कृतियों में ''औचित्यविचारचर्चा'' तथा ''सुवृत्ततिलक'' प्रमुख हैं। इनमें 'औचित्यविचारचर्चा' के अन्तर्गत उन्होंने जो विचार प्रकट किये उनका संक्षेप में यहाँ परिचय प्रस्तुत है–

सर्वप्रथम औचित्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है–

उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते।।

औचित्य०, कारिका ७

अर्थात् जो जिसके सदृश है आचार्य लोग उसे उचित कहते हैं और जो उचित का भाव है वही औचित्य है। क्षेमेन्द्र की दृष्टि में जिस काव्य में विचार करने पर भी काव्य का प्राणरूप औचित्य न दिखाई दे उसके अलंकार व गुणों की गणना व्यर्थ है –

काव्यस्यालमलङ्कारैः किं मिथ्यागणितैर्गुणैः।
यस्य जीवितमौचित्यं विचिन्त्यापि न दृश्यते।।

औचित्य०, का० ४

काव्य में अलंकार सदा अलंकार ही हैं और गुण सदैव गुण हैं किन्तु रस–सिद्ध काव्य का स्थायी जीवन तो औचित्य ही होता है :

अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

औचित्य०, का० ५

आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है कि अलंकार में अलंकारत्व तथा गुण में गुणत्व औचित्य से च्युत न होने पर ही रह सकते हैं :

उचितस्थानविन्यासादलंकृतिरलंकृतिः ।
औचित्यादच्युता नित्यं भवन्त्येव गुणाः गुणाः।।

औचित्य०, का० ६

औचित्य की अत्यन्त संक्षिप्त चर्चा करने के उपरान्त क्षेमेन्द्र ने अपनी मान्यताओं की पुष्टि में एक रोचक उदाहरण प्रस्तुत किया है :

कण्ठे मेखलया नितम्बफलके तारेण हारेण वा
पाणौ नूपुरबन्धनेन चरणे केयूरपाशेन वा।
शौर्येण प्रणते रिपौ करुणया नायान्ति के हास्यताम्
औचित्येन बिना रुचिं प्रतनुते नालङ्कृतिर्नोगुणाः।।

औचित्य०, का० ६, उदाहरण

अर्थात् कण्ठ में मेखला, नितम्ब में हार, हाथों में नूपुर, पैरों में केयूर पहनने से तथा शौर्य से झुके हुए शत्रु के ऊपर करुणा प्रदर्शित करने से कौन व्यक्ति हँसी का पात्र नहीं बनता। वस्तुतः औचित्य के बिना न तो अलंकार ही शोभावर्धक हो सकते हैं और न ही गुण।

क्षेमेन्द्र के इस सारगर्भित विवेचन से स्पष्ट है कि ये औचित्य को गुण और अलंकार से भिन्न मानते हैं। काव्य में औचित्य का वही स्थान है जो शरीर में जीवन (प्राण) का होता है। काव्य में रस अलंकार व गुण ही क्या, सम्पूर्ण काव्यांग औचित्य की सीमा में होने चाहिये।

पाश्चात्य काव्यशास्त्र में औचित्य-समीक्षा

भारत में आचार्य क्षेमेन्द्र के नाम से प्रतिष्ठित औचित्य-सिद्धान्त एक व्यापक काव्य समीक्षा दृष्टि है। समीक्षा की इस दृष्टि को पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों ने भी अत्यन्त महत्व दिया है। इन काव्यशास्त्रियों में अरस्तु, लांगिनस, होरेस, सिसरो, वड्सवर्थ, कालरिज, पुटेहनम्, इलियट, मैथ्यूआर्नल्ड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं, इन्होंने औचित्य शब्द को देकोरम, प्रेपौन, कोंगुइटी, कन्फोर्मिटी, फिटनैस, ऐप्रोप्रियेटनैस, कंसिस्टेन्सी, ऐप्टनैस, स्यूटेबिलिटी, क्रौंग्रिटी, प्रोप्राइटी आदि शब्दों से अभिव्यक्त किया है।

संक्षेप में कतिपय पाश्चात्यों के अभिमत औचित्य पक्षों का सार द्रष्टव्य है:

भारतीय काव्यशास्त्र की भाँति पाश्चात्य काव्यशास्त्र में भी औचित्य–समीक्षा का सूत्रपात नाट्यसमीक्षा के सन्दर्भ में ही हुआ जान पड़ता है क्योंकि पाश्चात्य आलोचना के प्रवर्तक अरस्तु ने नाटक के सन्दर्भ में ही औचित्य–सिद्धान्त की विस्तृत चर्चा की है। अरस्तु ने अपनी दो कृतियों 'पोइटिक्स' तथा 'रहैटोरिक्स' में त्रासदी के छः अंगों का वर्णन करते हुए औचित्य की महत्त्वपूर्ण चर्चा की है। कथानक, चरित्रचित्रण, पदरचना, विचारतत्व, दृश्यविधान और गीत (डा० नगेन्द्र : अरस्तु का काव्यशास्त्र, पृ० २०) –इन सबकी विवेचना में औचित्य की स्थापना की है। अरस्तु ने त्रासदी के वस्तु संघटन में घटनौचित्य (Aristotle; poetics page 61-62) रुपकौचित्य (Ibid Page 232) विशेषणौचित्य (Ibid Page 246) विषयौचित्य (Aristotle; Rhetorics Book II Chap. VII Page 245), वृत्तौचित्य (Aristotle; poetics Page 45) आदि पर भी सम्यक् विचार प्रस्तुत किए हैं।

अरस्तु के पश्चात् लांगिनस ने अपने ग्रन्थ 'On the Sublime' में औचित्य की सत्ता सहर्ष स्वीकार की है। अलंकारौचित्य पर विशेष बल देते हुए इन्होंने भारतीय आचार्य आनन्दवर्धन का अनुसरण किया है। इन्होंने शब्दौचित्य (On The Sublime, Ch. 30) तथा रचनाविधानौचित्य (Ibid Ch. 34) आदि की स्थापना की है तथा औचित्य के निर्वाह से ही काव्य–सौन्दर्य सम्भव माना है।

होरेस की प्रसिद्ध कृति 'आर्सपौहतिका' है। इन्होंने औचित्य को सिद्धान्त रूप में स्वीकार करके काव्य के विभिन्न तत्वों में औचित्य की सत्ता स्वीकार की है। होरेस ने अभिनय के औचित्य पर विशेष बल देते हुए कहा है कि ''अभिनय एक विशिष्ट कला है और इसमें औचित्य को

प्रधान आश्रय है। दुःखद शब्दों के लिए उदास चेहरा चाहिए, क्रुद्ध मुखमण्डल से शत्रुओं को डांट-डपट सुनानी चाहिये, हँसी की बातचीत के लिए चेहरा खिलता होना चाहिये और गम्भीर वार्ता के लिए पात्र के मुखमण्डल की गम्भीरता नितान्त आवश्यक है (आचार्य बलदेव उपाध्यायः भारतीय साहित्यशास्त्र भाग २ पृ० १२१)। होरेस ने घटनौचित्य, वृत्तौचित्य आदि पर भी पर्याप्त विचार किया है। अधिक विस्तार में न जाते हुए हम संक्षेप में कह सकते हैं पाश्चात्य जगत में औचित्य का सर्वाधिक विचार करने वाले अरस्तु तथा होरेस हैं।

सिसरो ने औचित्य को 'देकोरम' शब्द से जाना है। इन्होंने अपने ग्रन्थ 'औरेटरी' में शैली के अनुरूप वक्ता, चारित्र्य, विषय एवं परिस्थिति के औचित्य की चर्चा की है (Sisro : Oratory 12-14)।

वर्ड्सवर्थ ने भाषा के औचित्य पर तथा छन्द के औचित्य पर उत्तम विचार प्रकट किए हैं (वर्ड्सवर्थः लिरिकल वैलेड्स, भूमिका)

कॉलरिज ने रागतत्व को उत्तम काव्यांग स्वीकार करते हुए छन्द, अलंकार तथा विषय नियोजन-सम्बन्धी औचित्य पर महत्वपूर्ण विचार व्यक्त किये हैं (डा० नगेन्द्र तथा डा० सिन्हा : पाश्चात्यकाव्यशास्त्र की परम्परा पृ० १५७-१६५)।

पुनर्जागरण काल में गिराल्डी सिन्धियों ने कहा था कि "औचित्य का ध्यान केवल व्यवहार में ही नहीं वरन् मनुष्य के परस्पर वार्तालाप में भी होना चाहिये। यह औचित्य केवल किसी ग्रन्थ के एक भाग में ही नहीं वरन् प्रत्येक भाग में समान रूप से व्याप्त होना चाहिये (आचार्य सीताराम चतुर्वेदी : समीक्षा शास्त्र पृ०- ६०८)।" गोल्डस्मिथ ने औचित्य की प्रशंसनीय मीमांसा करते हुए उदाहरण दिया था कि "यदि किसी दृश्य में कोई अत्यन्त मोटी और पुष्ट अभिनेत्री दर्शकों के सम्मुख यह सिद्ध करने

का प्रयत्न करे कि वह भूख के मारे मर रही है तो वह दृश्य का अनौचित्य होगा (समीक्षाशास्त्र पृ० ६०८)।"

सिडनी ने भाषौचित्य पर बल देते हुए गम्भीर, विषयानुरूप, सगौरव, भावानुरूप भाषा का ही प्रयोग उचित माना है (Dorothy Macardle Depence of Poesy 10-30)।

'पाश्चात्यों के अतिरिक्त अरबी में भी तीन प्रकार के 'अदबी–मनासबत' (साहित्यिक औचित्य) माने गये हैं।

मुनासिबे मौका, मुनासिबे वक्त और मुनासिबे हाल अर्थात् अवसर, समय और दशा का औचित्य साहित्य में होना चाहिये (आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी)।'

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि काव्य समीक्षा का यह औचित्य–सिद्धान्त विश्व के प्रायः सभी आचार्यों व समीक्षकों को सहर्ष स्वीकार है। संक्षेप में यही औचित्य समीक्षा का सार्वदेशीय दृष्टिकोण है।

भारतीय एवं पाश्चात्य काव्यशास्त्रियों की दृष्टि से औचित्यसिद्धान्त की जो संक्षिप्त चर्चा हमने प्रस्तुत की है उससे यह सुतरां स्पष्ट हो जाता है कि आचार्य क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त एक सार्वभौम एवं सार्वकालिक सिद्धान्त है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य की औचित्य विमर्श में निहित दृष्टि

औचित्य सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में किरातार्जुनीय महाकाव्य की समीक्षा करने के हमारे दृष्टिकोण का केन्द्र बिन्दु यह है कि प्राचीन भारतीय काव्यशास्त्र की अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, रस, ध्वनि आदि दृष्टियों के समन्वय से सम्पन्न औचित्य सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में संस्कृत महाकाव्यों की बृहत्त्रयी में प्रतिष्ठित एक महाकाव्य रचना का अनुशासनबद्ध निबन्ध प्रस्तुत किया जाय। यह एक सुविदित तथ्य है कि मल्लिनाथ सदृश हमारे

टीकाकार अपनी काव्य-व्याख्या के सन्दर्भ में समीक्षाशास्त्र के विविध सिद्धान्तों के आलोक में कविता के कलात्मक एवं भावात्मक मर्म को अनावृत करने का प्रयत्न तो करते हैं परन्तु उनका यह प्रयत्न किसी भी काव्य समीक्षा के अनुसार कृति का पूर्णतः अनुशासनबद्ध अध्ययन प्रस्तुत नहीं कर पाता। हमारा मानना है कि हमारी इस समीक्षा के माध्यम से उनके द्वारा संकेतित कला-मूल्यों को सहज ही औचित्यदृष्टि के अन्तर्गत अनुशासनबद्ध किया जा सकता है।

प्रथम विमर्श पूर्ण

द्वितीय विमर्श

महाकाव्यगत औचित्य आकलन के मानदण्ड

किसी भी कवि या लेखक की कृति की समीक्षा करने के लिए कुछ मानदण्ड़ों का स्थिर करना आवश्यक होता है, ये मानदण्ड काव्यशास्त्र के मान्य आचार्यों द्वारा समीक्षा पद्धति के अपने अपने दृष्टिकोण विशेष से निश्चित किये जाते हैं। आज से लगभग ८०० वर्ष पूर्व आचार्य अभिनव गुप्त के शिष्य काश्मीरी पण्डित आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने पूर्ववर्ती सभी समीक्षा सिद्धान्तों का अवगाहन करके उन सब में साम्राज्य तत्व के रूप में अनुस्यूत औचित्य तत्व के आधार पर काव्य समीक्षा का एक अभिनव सिद्धान्त विकसित किया–

श्रुत्वाभिनवगुप्ताख्यात्साहित्यं बोधवारिधेः।
आचार्यशेखरमणिर्विद्याविवृतिकारिणः ।।

क्षेमेन्द्र, वृह०, उपसंहारः ३७

रसवादी आचार्यों ने रस को काव्य का सारभूत तत्व अथवा आत्मा माना है– ''**वाक्यं रसात्मकं काव्यम्**'' आचार्य क्षेमेन्द्र ने रस का भी प्राणतत्व औचित्य को ही समझा है–

औचित्यस्य चमत्कारकारिणश्चारुचर्वणे ।
रसजीवितभूतस्य विचारं कुरुतेऽधुना।।

औचित्य०, का० ३

क्षेमेन्द्र की दृष्टि में औचित्य काव्य का ऐसा जीवन तत्व है, जिसके अभाव में अलंकार और गुणादि काव्य के उपकारक तत्व भी अपना मूल्य खो बैठते हैं –

अलङ्कारास्त्वलङ्काराः गुणा एव गुणाः सदा।
औचित्यं रस-सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्।।

औचित्य०, का० ५

काव्य को औचित्य की दृष्टि से परखने के लिए क्षेमेन्द्र ने जिन २७ काव्यांगों में औचित्य विचार की चर्चा की है वे निम्नलिखित हैं :

पदे वाक्ये प्रबन्धार्थे गुणेऽलङ्करणे रसे।
क्रियायां कारके लिङ्गे वचने च विशेषणे।।
उपसर्गे निपाते च काले देशे कुले व्रते।
तत्त्वे सत्त्वेऽप्यभिप्राये स्वभावे सारसंग्रहे।।
प्रतिभायामवस्थायां विचारे नामन्यथाशिषि।
काव्यस्याङ्गेषु च प्राहुरौचित्यं व्यापि जीवितम्।।

औचित्य०, का० ८, ९, १०

औचित्य रूपों की कोई इयत्ता नहीं है। इनके अतिरिक्त भी औचित्य भेद सम्भव हैं। अतएव २७ प्रमुख औचित्य भेदों को प्रस्तुत कर क्षेमेन्द्र ने स्वयं कहा है "**औचित्य-भेदास्त्वनन्ताः**"। अतः स्पष्ट है कि काव्य की नाटक, महाकाव्य, कथादि भिन्नभिन्न विधाओं के निजी वैशिष्ट्य के अनुरूप औचित्य भेद अतिरिक्त भी निर्धारित किए जा सकते हैं यह कोरी सम्भावना ही नहीं अपितु सुस्थिर अनिवार्यता होगी। क्षेमेन्द्र द्वारा दर्शित औचित्य की दिशाएँ ऐसे सामान्य औचित्य तत्त्व हैं जो प्रायः सभी काव्यविधाओं पर न्यूधिक अन्तर से लागू किए जा सकते हैं। यह होते हुए भी विधाविशेषगत औचित्य समीक्षा के लिए विशिष्ट एवं वैज्ञानिक क्रम से नियोजित औचित्य मानदण्ड निर्धारित करना नितान्त अपेक्षित है। उदाहरणार्थ महाकाव्यगत औचित्य मानदण्ड निर्धारित करना नितान्त अपेक्षित है।

महाकाव्यगत औचित्य एवं नाटकगत औचित्य के निर्धारक मानदण्ड अनेकत्र विभिन्न होंगे। हमारी इस धारणा की पुष्टि आचार्य क्षेमेन्द्र के इस कथन से स्वतः प्रमाणित होती है:

अन्येषु काव्याङ्गेष्वनयैव दिशा स्वयमौचित्यमुत्प्रेक्षणीयम् , तदुदाहरणान्यानन्त्यान्न प्रदर्शितानि'' इति अलमति प्रसङ्गेन (क्षेमेन्द्रः औचित्य०, उपसंहार की पंक्तियाँ) अर्थात् इस प्रकार से अन्य काव्यांगों के भीतर भी समीक्षकों को स्वयं औचित्य की स्थिति समझ लेनी चाहिए। इस प्रकार के उदाहरण अनन्त हैं सब की चर्चा करना यहाँ सम्भव नहीं है।

महाकाव्य रचना स्वयं में एक महती साहित्यविधा है। महाकाव्य, नाटक आदि की अपेक्षा न केवल आकार मूलक महत्त्व रखता है अपितु विषय की व्यापकता, आदर्शों एवं मूल्यों की विविधता तथा कलात्मक निजी व्यक्तित्व के कारण भी महान् होता है। संस्कृत के परम्परागत काव्यशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रस्तुत महाकाव्य के लक्षण भी इसी तथ्य की पुष्टि करते हैं। अतः एक महाकाव्य रचना की औचित्यमूलक समीक्षा करने से पूर्व हमें आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रदर्शित औचित्यरूपों के प्रकाश में कुछ मानदण्ड स्थिर कर लेना नितान्त अपेक्षित है। यद्यपि क्षेमेन्द्र दर्शित सभी सत्ताईस औचित्य प्रभेद महाकाव्य समीक्षा के मानदण्ड हैं तथापि इन सब को कुछ व्यापक एवं प्रमुख शीर्षकों में समा लेना उचित ही होगा ताकि प्रवृत्तिगत निकटता एवं सुबद्धता बनी रहे। साथ ही जहाँ आवश्यकता हो वहीं इन मुख्य शीर्षकों की परिधि में ही औचित्य भेदों का वांछित संकोच या विस्तार किया जा सके।

आचार्य क्षेमेद्र द्वारा प्रदर्शित २७ औचित्य भेदों को महाकाव्य समीक्षा की दृष्टि से हम निम्नलिखित व्यापक औचित्य मानदण्डों के रूप में वर्गीकृत करना उचित समझते हैं –

(क) प्रबन्धार्थौचित्य

(ख) भाषागत पदवाक्यौचित्य

(ग) प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरणिक इकाईगत औचित्य

(घ) लोकाचारगत औचित्य

(ड़) मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामूलक रसादिगत औचित्य

क. प्रबन्धार्थौचित्य

महाकाव्यगत औचित्य समीक्षा का महत्वपूर्ण पक्ष उसके प्रबन्धार्थ औचित्य को परखना है। **कवि के अभिमत कथ्य की अविच्छिन्न योजना का नाम ही प्रबन्ध है।** इस प्रबन्ध अथवा प्रबन्धगत अर्थ का उचित गुम्फन ही प्रबन्धौचित्य अथवा प्रबन्धार्थौचित्य कहा जाएगा। इसका सीधा सा अर्थ है कि कवि अपनी रचना में समग्ररूप से जिस कथ्य को कथावस्तु का घटक बना रहा है वह कथ्य अपनी पूरी प्रभविष्णुता पा सके। इसके लिए कवि कथावस्तु के साथ यदि ऐसे कथ्यांशों को गुम्फित कर देता है जो उसकी प्रभावकारिता को भरपूर कमनीयता दे दें तो उन कथ्यांशों का उचित गुम्फन ही प्रबन्धार्थगत औचित्य कहलाएगा।

इस प्रकार के अनुरूप कथ्यांशों का गुम्फन महाकाव्य जैसी कृति के रचयिता से अत्यन्त कौशल एवं सतर्कता की अपेक्षा करता है। तभी तो वृहत्त्रयी के रचनाकारों में अन्यतम महान् कवि माघ का कथन है कि 'अर्थसम्बन्ध को अविच्छिन्न बनाए रखने वाला प्रबन्ध कष्टसाध्य होता है''

''**अनुज्झितार्थसम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः**'' (माघः, शिशु०-२.७३)

अनुज्झितार्थसम्बन्ध वाले ऐसे प्रबन्ध के गुम्फन में कृतिकार की अपरिपक्वता अथवा अनवधानता के कारण घटित होने वाली सम्भावित च्युतियों का आनन्दवर्धन, मम्मट, विश्वनाथादि आचार्यों ने अनौचित्य के

विविध रूपों के नाम से उल्लेख किया है। अनौचित्य के वे रूप निम्नवत् हैं –

१– अंग अथवा प्रासंगिक कथ्य–

"प्रासङ्गिक परार्थस्य स्वार्थो यस्य प्रसङ्गतः" धनञ्जय, दशरूपक, –१, १३ का अतिविस्तार।

२– अंगी अर्थात् आधिकारिक कथ्य का अनुसन्धान।

अधिकारः फले स्वाभ्यमधिकारी च तत्प्रभुः।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते।।

विश्वनाथ, साहि० दर्पण–६.४३

३– अनंग अर्थात् अनपेक्षित कथ्य का वर्णन।

४– प्रकृति विपर्यय (देखिए : मम्मट : टीका० आचार्य विश्वेश्वर, का० पु० पृ० ३६२) अर्थात् काव्य नायक के भेदों का प्रकृति के विपरीत वर्णन।

प्रसंगानुरोध से यहाँ आचार्य क्षेमेन्द्र का प्रबन्धार्थौचित्य के सम्बन्ध में विचार उद्धृत करना अनुचित न होगा, उनका कथन है कि "जिस प्रकार गुणों के प्रभाव से विभूषित ऐश्वर्य द्वारा सज्जन सुशोभित होते हैं, उसी प्रकार उचित अर्थ से गठित सम्पूर्ण प्रबन्धार्थ सुशोभित होने लगता है।"

उचितार्थ विशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः।।

औचित्य०, का० १३

क्षेमेन्द्र ने अपनी स्थापना के साथ एक "वृत्ति" दी है–

अम्लानप्रतिभाप्रकर्षोत्प्रेक्षितेन सकलप्रबन्धार्थाप्यायिपीयूषवर्षेण समुचितार्थविशेषेण महाकाव्यं स्फुरदिव चमत्कारितामापद्यते।

औचित्य, कारिका १३ वृत्ति

अर्थात् "अम्लान प्रतिभा द्वारा कल्पित किसी विशेष अर्थ के उचित रूप में प्रयुक्त होने से समस्त प्रबन्धार्थ चमत्कारिता को प्राप्त होता है।" इस वृत्ति से आचार्य क्षेमेन्द्र का तात्पर्य है कि कवि की प्रतिभा द्वारा उद्भासित उचित प्रासंगिक कथ्यांशों के प्रयोग द्वारा महाकाव्य का आधिकारिक कथ्य सुशोभित होकर चमत्कारी बन जाता है। प्रबन्धार्थौचित्य के विषय में अपना निदर्शन प्रस्तुत करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'मेघदूतम्' का यह श्लोक प्रस्तुत किया है :

जातं वंशे भुवनविदितेपुष्करावर्तकानां
जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः।
तेनार्थित्वं त्वयि विधिवशाद्दूरबन्धुर्गतोऽहं
याच्ञा मोघा वरमधिगुणे नाऽधमे लब्धकामा।।

(कालिदास, पूर्वमेघ, ५)

विप्रलम्भशृंगार प्रधान गीतिकाव्य के इस श्लोक में कविकुलगुरु कालिदास ने विरही यक्ष का सन्देशवाहक बनाए जा रहे मेघ के प्रति यह आदिम कथन प्रस्तुत किया है। कामार्त्त यक्ष अपनी भावुकता में चेतन तथा अचेतन का भेद विस्मृत किए हुए है अतः उसके आदिम कथन में ऐसे कथ्यांश का गुम्फन करना कि जिसका प्रत्येक वाक्य अचेतन मेघ के अन्दर चेतना का अध्यास कर रहा हो, नितान्त प्रभावकारी होगा, अतः यह अर्थगुम्फन कला की दृष्टि से अत्यन्त उचित है। पुष्करावर्तक मेघों के वंश में सन्देशवाहक मेघ के जन्म, इन्द्र का प्रकृतिपुरुष होना, इस प्रकार का कथ्य-प्रबन्धन है जिससे सन्देशवाहक मेघ के अचेतन व्यक्तित्व का पूर्ण रूप से तिरोधान हो जाता है तथा उसका चेतन व्यक्तित्व पाठक वर्ग की मानसिकता पर अपनी पूर्णता में प्रस्फुटित हो उठता है। अतः कृतिकार द्वारा वस्तु का ऐसा प्रबन्धन प्रबन्धार्थौचित्य का अत्यन्त मनोग्राही निदर्शन है।

यही वह प्रबन्धार्थ का औचित्य है जिसे माघ ने "अनुज्झितार्थ सम्बन्ध" नाम से अभिव्यक्त किया है। इस औचित्यसूत्र के हाथ से खिसकते ही सम्पूर्ण प्रबन्ध अनौचित्य ग्रस्त हो जाता है।

ख. भाषागत पदवाक्यौचित्य -

काव्य के कथ्य तथा उसे अभिव्यक्ति देने वाली भाषा अर्थात् शब्द तत्त्व के दो महत्वपूर्ण उपादान होते हैं। कथ्य अथवा अर्थतत्व अव्यक्त उपादान होता है और भाषा व्यक्त उपादान। जिस प्रकार अव्यक्त उपादान के चयन, रूप-निर्धारण, पूर्वापर नियोजन एवं कलात्मक-चारुता आदि के प्रति कृतिकार को सावधान रहना होता है और कलागत तथा सामाजिक मूल्यगत अनेक औचित्य दृष्टियों का ध्यान रखना होता है, उसी प्रकार भाषा-रूप व्यक्त-उपादान के चयन में उसे अभिप्रेत कथ्य के सम्प्रेषण करने में समर्थ अधिकारिक विद्युतीय आवेश से युक्त पद और वाक्यों की योजना के प्रति सतर्क रहना होता है। उसे अपने भावबोध को सामाजिक जन की अनुभूतियों का भरपूर मात्रा में विषय बनाने के उद्देश्य से उपलब्ध नाना पद रूपों में से किसी एक पद विशेष का चयन करना होता है। किसी एक पद का चयन भी यदि तनिक सी अकुशलता से हो जाता है तो कला का उत्कर्ष निश्चित ही कम हो जाता है। इसी प्रकार पद विन्यास में कहाँ पद की समासनिष्ठता कलात्मक मूल्य रखती है, कहाँ उसकी विश्लिष्टता? इसका भी औचित्य कृतिकार को समझना होता है। कभी कभी एक ही अर्थ को विभिन्न प्रकार की पद वृत्तियाँ सूचित करने का सामर्थ्य रखती हैं, परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि सभी प्रकार के पद बन्धों से जुड़ी अर्थगत कलात्मक आच्छायाएँ समान ही होंगी। वास्तव में सन्दर्भ विशेष में रचना की पूरी समग्रता में हमें प्रत्येक इकाई के कलात्मक सौन्दर्य की

रेखाओं को पकड़ना होता है। जो पद–बन्ध सौन्दर्य को अधिक से अधिक रूपायित कर सके, उसी पद का प्रयोग उचित ठहरता है।

जहाँ तक वाक्य का प्रश्न है उसका औचित्य कतिपय अतिरिक्त वैशिष्ट्यों पर निर्भर करता है। वाक्य यद्यपि पदसमूह ही होता है परन्तु पद की भाँति वह लघु और एकाकी इकाई नहीं होता। अतः पदौचित्य तथा वाक्यौचित्य एक ही नहीं माना जा सकता। पद के औचित्य की समीक्षा करते हुए हम कथ्य सम्प्रेषण की प्रभविष्णुता का मूल्यांकन एक पद इकाई में करते हैं जबकि वाक्य का औचित्य परखते हुए हम यह देखते हैं कि वाक्य पद विशेषों के प्रयोग से क्यों युक्त किया गया है। फलतः पदगत औचित्य और वाक्यगत औचित्य एक नहीं हुआ करते। दैनिक व्यवहार में अभिलषित अर्थ सूचित करने के लिए वक्ता एक सामान्य रीति से पद समूहन करता है और उससे अर्थ बोध होता है। जहाँ तक कलात्मक काव्यकृति का प्रश्न है वहाँ पद समूहन सरलरेखीय बिन्दुओं से नहीं, वक्ररेखीय बिन्दुओं से गुजरता है। वाक्यविन्यास में यह वक्रता अथवा कलात्मकता अनेक रूपों में पायी जाती है। उदाहरण के लिए विशेष्य के साथ साभिप्राय विशेषण पदों का संयोजन, उद्देश्य–विधेय का क्रमपरिवर्तन, विशेषण और विशेष्य की दूरियाँ, कर्तृवाच्य, कर्मवाच्य, विन्यास आदि। कहीं वर्णनाप्रधान सामान्य वाक्य रचना अधिक उचित होती है तो कहीं अप्रश्न में भी प्रश्नात्मक वाक्यरचना अथवा सम्बोधनप्रधानवाक्य रचनादि।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य रचना में प्रयुक्त पद तथा वाक्य का पृथक्–पृथक् औचित्य व्याख्यायित किया है। हम उनका व्यापक परिवेश इस रूप में स्थिर कर सकते हैं–

पदौचित्य -

प्रसंगानुरूप उचित पद प्रयोग का नाम ही पदौचित्य है एक अर्थ को प्रकट करने वाले अनेक पर्यायवाचक पदों में से किस पद का प्रयोग करने से सौन्दर्य आ रहा है तथा विवक्षित अर्थ की स्फुटतर प्रतीति हो रही है यह देखना महाकवि का विशिष्ट दायित्व है। यही कारण है कि आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य परीक्षक मानदण्ड़ों में सर्वप्रथम पद के औचित्य का निर्देश किया है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने पदौचित्य का महत्त्व दर्शाते हुए कहा है–

तिलकं बिभ्रती सूक्तिर्भात्येकमुचितं पदम्।
चन्द्राननेव कस्तूरीकृतं श्यामेव चान्दनम्।।

औचित्य०, का० ११

किसी भी पद के उचित प्रयोग से सूक्ति उसी प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार कस्तूरी के तिलक से चन्द्रमुखी युवती तथा चन्दन के तिलक से श्यामायुवती। स्मरण रहे कि यहाँ क्षेमेन्द्र का पद से अभिप्राय व्याकरणशास्त्रसम्मत सुबन्त तिङ्न्त रूप पद से नहीं है अपितु प्रातिपादिक मात्र से है उनके अपने इस पक्ष की पुष्टि में दिए गए उदाहरणों व प्रत्युदाहरणों से उपर्युक्त कथन स्पष्ट हो रहा है। औचित्यविचार चर्चा की 'प्रभा' नामक संस्कृत टीका के लेखक आचार्य श्री व्रजमोहन झा ने क्षेमेन्द्र के पदौचित्य को स्पष्ट करते हुए ''**पदे सुप्तिङ्न्त रूपे शब्दे इत्यर्थः**'' कहा है। जिससे सहज सहमत होना कठिन है क्योंकि स्वयं क्षेमेन्द्र ने तिङ्न्त रूप क्रिया का औचित्य पृथक् निर्दिष्ट करके ''सुप्तिङ्न्त रूपे शब्दे'' इस व्याख्या से असहमति प्रकट कर दी है।

अपनी पदौचित्य सम्बन्धी स्थापना की पुष्टि में आचार्य क्षेमेन्द्र ने महाकवि परिमल का यह उदाहरण प्रस्तुत किया है–

मग्नानि द्विषतां कुलानि समरे त्वत्खड्गधाराकुले
नाथास्मिन्निति वन्दिवाचि वहुशो देवश्रुतायां पुरा।
मुग्धा गुर्जरभूमिपालमहिषी प्रत्याशया पाथसः
कान्तारे चकिता विमुञ्चति मुहुः पत्युः कृपाणे दृशौ।।

औचित्य०, का० ११, निदर्शन

यहाँ बन्दीजन की रूपकात्मक स्तुति को यथार्थ मान खड्गधारा में जल की चाह करने वाले भोलेपन को 'मुग्धा' पद शतप्रतिशत प्रभावी भूमिका प्रदान कर रहा है, अतः यहाँ पदौचित्य है।

वाक्यौचित्य –

काव्यशास्त्र एवं तर्कशास्त्र के अनुसार अन्वित अर्थ का बोध कराने वाले पदसमूह का नाम वाक्य है–

अन्वितैकार्थबोधे तु वाक्यं पदसमुच्चयः।।

कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य, काव्य दी०– २.१

और पदसमूहरूप वाक्य का उचित प्रयोग ही वाक्यौचित्य है। भगवान् राम का चरित्रांकन करते समय जहाँ उनके सौम्यस्वरूप के अनुरूप प्रसाद गुणयुक्त माधुर्यव्यञ्जक पदों से युक्त वाक्य का प्रयोग ही वाक्यौचित्य कहा जाएगा।

इति ब्रुवाणं राजानं रामः प्राञ्जलिरब्रवीत्।
कुरु प्रसादं धर्मज्ञ कैकेय्या भरतस्य च।
सपुत्रां त्वां त्यजामीति यदुक्ता केकयी त्वया।।
स शापः केकयीं घोरः सपुत्रां न स्पृशेत् प्रभो।।

(वा०रा० ६/११९/२५–२६)

वहीं उनके वीर वरेण्य रूप का चित्रण करते समय ओजगुणयुक्त

पदावलीमण्डित वाक्य का प्रयोग ही औचित्य का निर्वाहक होगा–

मुक्तस्तु वज्रनिर्घोषः प्रदीप्ताशनिसंनिभः।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः।।

(वा०रा० ४/१६/३५)

आचार्य क्षेमेन्द्र का इस विषय में कथन है कि उचित रूप से प्रयोग किया हुआ कोई भी वाक्य विद्वानों को उसी प्रकार प्रिय होता है जिस प्रकार त्याग से वर्धित ऐश्वर्य तथा शील से युक्त शास्त्रज्ञान–

औचित्यरचितं वाक्यं सततं सम्मतं सताम्।
त्यागोदग्रमिवैश्वर्यं शीलोज्ज्वलमिव श्रुतम्।।

औचित्य०, का० १२

वाक्यौचित्य को हृदयंगम करने के लिए उन्होंने निम्नलिखित उदाहरण प्रस्तुत किया है –

देवो दयावान्विजयो जितात्मा यमौ मनः संयममाननीयौ
इति ब्रुवाणः स्वभुजं प्रमार्ष्टि यः कीचकाकालिककालदण्डम्।
धीरः स किर्मीरजटासुरारिः कुबेरशौर्यप्रशमोपदेष्टा
दृष्टो हिडिम्बादयितः कुरूणां पर्यन्तरेखागणनाकृतान्तः।।

(औचित्य०, का० १२, निदर्शन)

प्रस्तुत पद्य में भीमसेन के भयंकर चरित के अनुकूल तथा रौद्ररस के अनुकूल प्रयुक्त होने वाले "कीचकाकालिककालदण्डम्" तथा "हिडिम्बादयितः" आदि पदों से युक्त वाक्यरचना से काव्यार्थ सजीव हो उठा है। फलतः यह वाक्यौचित्य का सफल निदर्शन है।

क्रियौचित्य –

क्रिया के उचित प्रयोग का नाम ही क्रियौचित्य है। एक ही घटना या

व्यापार की अभिव्यक्ति के लिए अनेक क्रियापद उपलब्ध हो सकते हैं, उन सब में से किस क्रिया पद के प्रयोग से सौन्दर्य का आधान हो रहा है, यह परखना कवि के लिए बहुत आवश्यक है, इसके लिए उसको क्रिया के परस्मैपदी तथा आत्मनेपदी एवं कर्तृवाच्य व भाववाच्यगत प्रयोग द्वारा होने वाली सौन्दर्य वृद्धि की ओर ध्यान रखना पड़ता है। किसी भी क्रिया का काल विशेष में किया गया प्रयोग भी सौन्दर्य वृद्धि का असाधारण कारण होता है। साथ ही कवि का कौशल इस रूप में भी देखा जा सकता है कि समानार्थक क्रिया पदों में से किस क्रिया विशेष का प्रयोग करके रचनाकार अभीष्ट अर्थ की तीव्र अभिव्यक्ति में सफल हुआ है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने काव्य में क्रिया विशेष का महत्व बताते हुए कहा है–

सगुणत्वं सुवृत्तत्वं साधुता च विराजते।
काव्यस्य सुजनस्येव यद्यौचित्यवती क्रिया।।

औचित्य०, का० १९

काव्य की माधुर्यादि गुणवत्ता, वसन्ततिलकादि सद्वृत्तता तथा सर्वलक्षणसम्पन्नता आदि तभी सुशोभित होती हैं जब क्रियापद का प्रयोग औचित्य सम्पन्न होता है। उदाहरण के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी 'नीतिलता' का यह पद्य प्रस्तुत किया है –

यः प्रख्यातजवः सदास्थितिविधौ सप्ताब्धिसंध्यार्चने
दोर्दर्पेण निनाय दुन्दुभिवपुर्यः कालकङ्कालताम्।
यः पातालमसृङ्मयं प्रविदधे निष्पिष्य मायाविनं
सुग्रीवाग्र्यविभूतिलुण्ठनपटुर्वाली स किं स्मर्यते।।

औचित्य, का० १९, निदर्शन

प्रस्तुत पद्य में शुक और सारिका रावण को दुर्नीति से हटाने के लिए वालि के अन्य पराक्रमों को वर्णित करके 'स किं स्मर्यते' ऐसा कहते हैं।

जिससे ध्वनित होता है कि "उस वालि की तुम्हें याद है"– जिसने तुमको वस्त्र के एक छोर में बांधकर कुक्षि में रख लिया था"। फलतः यहाँ 'स्मर्यते' क्रिया के उचित प्रयोग के कारण अद्‌भुत चमत्कार आ रहा है।

कारकौचित्य –

महाकाव्य हो अथवा अन्य काव्यविधा सभी की वाक्यरचना में कारक पदों के चयन में कवि का प्रयत्न अनेकत्र साभिप्राय रहता है। कवि के अभिप्रेतार्थ को पूर्णांश में ध्वनित या सम्प्रेषित करने में समर्थ कारक का प्रयोग ही उचित समझा जाएगा। प्रस्तुत अर्थ की श्रीवृद्धि में कहाँ किस कारक का प्रयोग सहायक है यह परख मनीषि काव्यकार को होती है, उसे यह भी देखना पड़ता है कि भावनाओं की तीव्रतम उद्दीप्ति में कहाँ संज्ञा शब्द तथा कहाँ क्रियावाचक शब्द का कारक में प्रयोग करना आवश्यक है। इसके लिए कारक शब्द के (करने वाला) अर्थ को ध्यान में रखते हुए वाक्य के अभिप्रेत, अभिधेय की कर्तृव्य शक्ति किस कारक के प्रयोग में निहित है, इसका विमर्श भी काव्यकार को ही करना पड़ता है। "अहम् काष्ठं भिनद्मि" और "भिद्यते काष्ठं" वाक्यों में कर्तृत्व शक्ति का आधान क्रमशः अहम् तथा काष्ठम् में है। इसकी परख किए बिना कारक का उचित प्रयोग नहीं हो सकता। क्षेमेन्द्र का विचार है –

सान्वयं शोभते वाक्यमुचितैरेव कारकैः।
कुलाभरणमैश्वर्यमौदार्यचरितैरिव ।।

औचित्य०, का०–२०

कि "सत्कुलालंकृत सम्पत्ति जिस प्रकार सदाचार से सुशोभित होती है ठीक उसी प्रकार उपर्युक्त अन्वय से परिलसित वाक्य उचित कारक के प्रयोग से ही सुशोभित होता है। कर्तृपद का औचित्य परखने के लिए महाकवि बाणभट्ट का यह पद्य देखिए–

स्तनयुगमश्रुस्नातं समीपतरवर्ति हृदयशोकाग्नेः।
चरति विमुक्ताहारं व्रतमिव भवतो रिपुस्त्रीणाम्।।

औचित्य०, का०-२०, निदर्शन

यहाँ 'शत्रुओं की स्त्रियाँ व्रत कर रही हैं' यह कहना कवि का अभीष्ट काव्यार्थ है परन्तु ऐसा न कहकर "स्तनयुगं वाष्प सलिलस्नातं शोकाग्निसमीपवर्ति विमुक्तभोजनं विगत मुक्ताहारं च सद्व्रतं चरति" वाक्य कहा है जिसने स्तनयुग का कर्त्तत्व उभार दिया है अतः कर्तृकारक का प्रयोग विलक्षण होने से यहाँ कर्तृपदौचित्य है।

लिङ्गौचित्य-

एक ही अर्थ को बताने के लिए विभिन्न लिङ्ग वाले शब्द भाषा में प्राप्त है उनमें से रसानुरूप विशिष्ट लिंग वाले शब्द का उचित प्रयोग ही लिंगौचित्य है, ऐसा करके कवि उद्दिष्ट अर्थ की अभिव्यक्ति में तीव्रता ला दिया करता है। जब कभी नियतलिंग को संज्ञा के पूरक रूप में रखा जाता है तो वह विशेषणवत् विशेष्यानुसारी न होकर अपने लिंग में ही प्रयुक्त होता है। उपमान और उपमेय में औचित्य की दृष्टि से समलिंग शब्दों का प्रयोग ही उपयुक्त माना जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है-

उचितेनैव लिङ्गेन काव्यमायाति भव्यताम्।
साम्राज्यसूचकेनेव शरीरं शुभलक्ष्मणा।।

औचित्य०, का०-२१

प्रस्तुत अर्थ के अनुरूप लिंग का प्रयोग करने से काव्य उसी प्रकार सुशोभित हो उठता है जिस प्रकार राजकीय लक्षणों से युक्त शरीर। उदाहरणार्थ क्षेमेन्द्र की ही 'ललितरत्नमाला' का यह पद्य प्रस्तुत है-

निद्रां न स्पृशति त्यजत्यपि धृतिं धत्ते स्थितिं न क्वचिद्-
दीर्घां वेत्ति कथां व्यथां न भजते सर्वात्मना निर्वृतिम्।

तेनाराधयता गुणस्तव जपध्यानेन रत्नावलीं
निःसङ्गेन पराङ्गनापरिगतं नामापि नो सह्यते।।

औचित्य०, का०-२१, निदर्शन

यहाँ राजा उदयन की स्मरावस्था का वर्णन करते हुए निद्रा, धृति, स्थिति, कथा व निवृत्ति आदि पदों का स्त्रीलिंग में प्रयोग किया गया है जो उपरिलिखित श्लोक की चतुर्थ पंक्ति में व्यक्त काव्यार्थ को सहस्रगुणा चमत्कारी बना देता है अतः यहाँ स्त्रीलिंग के प्रयोग का परम औचित्य है।

वचनौचित्य -

'वचन' शब्द का अर्थ है संख्या। संख्येय की संख्या के आधार पर पदों में वचन का प्रयोग होता है। कुछ पद अपनी संख्या के आधार पर किसी विशिष्ट वचन में ही प्रयुक्त होते हैं। जैसे 'प्रमाण' शब्द सामान्यतः एक वचन में, 'दम्पती' शब्द द्विवचन में तथा 'असु' शब्द बहुवचन में ही प्रयुक्त होते हैं। संख्येय की संख्या के विपरीत भी कुछ शब्दों में नियतवचनता होती है, जैसे 'वर्षा' व 'दार' शब्द सदा बहुवचन में प्रयुक्त होते हैं। कभी कभी शिष्टतावश भी वचन में व्यतिक्रम देखा जाता है जैसे अपने लिए 'वयम्' का प्रयोग अथवा पूज्यों के लिए बहुवचन का प्रयोग किया जाता है। विशिष्ट स्थलों में प्रकृतार्थ के अनुरूप विशिष्ट वचन के प्रयोग से काव्य में चारुता आ जाती है। वचन के इसी उचित प्रयोग का नाम वचनौचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है -

उचितैरेव वचनैः काव्यमायाति चारुतम्।
अदैन्यधन्यमनसां वदनं विदुषामिव।।

औचित्य०, का०-२२

'एकवचन, द्विवचन, तथा बहुवचन के उचित प्रयोग से काव्य इस प्रकार चारुता को प्राप्त हो जाता है जिस प्रकार याचना रहित उचित

वचनों से विद्वानों का मुख। वचन विशेष के प्रयोग द्वारा उत्पन्न अर्थ विच्छित्ति का क्षेमेन्द्र द्वारा प्रस्तुत उदाहरण देखिए–

त्रैलोक्याक्रमणैर्वराहविजयैर्निःसंख्यरत्नाप्तिभिः,
प्रख्यातः स्वरसस्वयंवरशतैर्युद्धाब्धिमध्ये श्रियः।
साश्चर्यैर्बलिबन्धनैश्च बहुभिर्नित्यं हसत्युत्थितः,
पौलस्त्यः सकृदुद्यमश्रमवशाद्व्यासक्तनिद्रं हरिम्।।

औचित्य०, का०–२२, निदर्शन

प्रस्तुत पद्य में रावण के अनेक पराक्रमी कार्यों के लिए बहुवचन और विष्णु के कार्यों के लिए एकवचन का प्रयोग, दोनों के भेद का औचित्य प्रकट करता है।

विशेषणौचित्य –

जिस पद से नाम अथवा सर्वनाम की विशेषता प्रकट की जाय उसे विशेषण कहा जाता है। विशेषण के द्वारा जिसकी विशेषता बतायी जा रही है उस संज्ञा या सर्वनाम को विशेष्य भी कहा जाता है। विशेष्य और विशेषण का परस्पर प्रशस्य प्रशंसक सम्बन्ध है। इसीलिए यह आवश्यक है कि प्रस्तुत अर्थ को चमत्कारी बनाने के लिए विशेष्य के अनुरूप ही विशेषणों का प्रयोग किया जाय। यही उचित विशेषण प्रयोग औचित्य आकलन के मापदण्डों में विशेषणौचित्य के नाम से जाना जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है–

विशेषणैः समुचितैर्विशेष्योऽर्थः प्रकाशते।
गुणाधिकैर्गुणोदारः सुहृद्भिरिव सज्जनः।।

औचित्य०, का०–२३

'उचित विशेषणों से काव्य में विशेष्यार्थ की इस प्रकार शोभा बढ़ती

है, जिस प्रकार गुणशाली मित्रों से गुणी सज्जनों की शोभा वृद्धि को प्राप्त होती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक देखिए–

चैत्रे सूत्रितयौवनान्युपवनान्यामोदिनी पद्मिनी
ज्योत्स्नाप्रावरणानि रत्नवलभीहर्म्याणि रम्याः स्त्रियः।
सर्वं चारुतरं न कस्य दयितं यस्मिंस्तु तद्धुज्यते
तन्मृन्निर्मितमामभाजनमिव क्षिप्रक्षयं जीवितम्।।

औचित्य०, का०–२३, निदर्शन

प्रकृत श्लोक में विशेष्यों को उत्कर्ष प्रदान करने वाले समुचित विशेषणों के कारण सौन्दर्य आ रहा है तथा इस सौन्दर्य से अन्त में प्रकट होने वाले निस्सारता एवं निर्वेद के अनुकूल औचित्य प्रकट होता है।

उपसर्गौचित्य –

'उपसर्ग' का शाब्दिक अर्थ है – 'ऊपर सृष्टि'। अर्थात् जिन 'प्र', 'परा' आदि का क्रिया से पूर्व प्रयोग होता है उन्हें उपसर्ग कहा जाता है इन उपसर्गों के द्वारा धातु के अर्थ में बलात् परिवर्तन आ जाता है। उदाहरणार्थ 'हृञ्' धातु से पूर्व प्र, आङ् आदि उपसर्ग लगने से प्रहार, आहार, संहार, विहार, परिहार आदि शब्द।

उपसर्गेणधात्वर्थोबलादन्यत्रनीयते ।
प्रहाराहार संहार विहार परिहारवत्।।

सि० कौ०, तुदादिगण

विभिन्न अर्थों का द्योतन या प्रकाशन होता है। व्याकरणशास्त्र में यद्यपि भर्तृहरि प्रभृति आचार्यों से उपसर्गों को विशिष्ट अर्थों का वाचक व द्योतक दोनों रूपों में स्वीकार किया है।

''स वाचकौ विशेषाणां सम्भवाद्द्योतकौऽपि वा'' – वाक्य०

तथापि मुख्यतः इन्हें द्योतक ही स्वीकार किया गया है। उपसर्गों के प्रयोग से धात्वर्थ में परिवर्तन तो होता ही है मुख्यार्थ में उत्कर्ष व अपकर्ष का आधान भी इसके द्वारा किया जाता है एतदर्थ कभी कभी तीन-तीन, चार-चार उपसर्गों को एक ही धातु के पहले जोड़ दिया जाता है यथा 'प्रत्युदाहरण'। आचार्य क्षेमेन्द्र का इस विषय में कथन है-

योग्योपसर्गसंसर्गैर्निरर्गलगुणोचिता।
सूक्तिर्विवर्धते सम्पत्सन्मार्गगमनैरिव।।

औचित्य०, का० २४

'उचित उपसर्गों से युक्त सूक्ति उसी प्रकार शोभायमान होती है जिस प्रकार सन्मार्ग पर चलने से सम्पत्ति बढ़ जाती है। उन्हीं के द्वारा दर्शित उदाहरण विचारणीय है -

आचारं भजते त्यजत्यपि मदं वैराग्यमालम्बते
कर्तुं वाञ्छति सङ्गभङ्गगलितोत्तुङ्गाभिमानं तपः।
दैवन्यस्तविपर्ययैः सुखशिखाभ्रष्टः प्रणष्टो जनः
प्रायस्तापविलीनलोहसदृशीमायाति कर्मण्यताम्।।

औचित्य०, का० २४, उदाहरण

यहाँ 'उत्' उपसर्ग पूर्व में रहने से 'उत्तुंग' शब्द का स्वाभाविक उत्कर्ष दुगुना हो गया है फलतः दुर्मद एवं अभिमान की अर्थव्यंजना में औचित्य का आधिक्य हो रहा है।

निपातौचित्य -

अद्रव्यवाची च, वा, ह, अह्, आदि अव्यय शब्दों को निपात कहा जाता है- ''**चादयोऽसत्वे**'' अष्टाध्यायी १.४.५७ क्रिया से पूर्व जुड़ने वाले 'प्र' आदि शब्द भी यद्यपि निपात हैं, किन्तु उनको क्रिया से पूर्ववर्ती

होने के कारण तथा स्वतन्त्र प्रयोग न होने के कारण उपसर्ग नाम से जाना जाता है।

इन निपातों का प्रयोग सभी लिंगों, सभी विभक्तियों तथा सभी वचनों में एक रूप से ही होता है। इन पर लिंग, विभक्ति वचनादि का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी से इन्हें अव्यय भी कहा जाता है।

सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु।
वचनेषु च सर्वेषु यन्न व्ययेति तदव्ययम्।

वरदराजाचार्य, लघुसिद्धा०, अव्यय०, अव्ययादाप्सुपः २.४.८२

जैसा कि 'निपात' शब्द के 'आ पड़ना' इस शब्दार्थ से प्रकट है, कुछ निपातों का प्रयोग कवि लोग केवल वाक्यसौन्दर्य बढ़ाने के लिये अथवा कभी केवल पादपूर्ति के लिए कर लिया करते हैं फिर भी इस सत्य को नहीं अस्वीकार किया जा सकता कि प्रस्तुतार्थ में चमत्कारिता लाने के लिए ही किया गया निपातों का उचित प्रयोग निपातौचित्य कहा जाएगा।

आचार्य क्षेमेन्द्र का इस विषय में कथन है –

उचितस्थानविन्यस्तैर्निपातैरर्थसङ्गतिः।
उपादेयैर्भवत्येव सचिवैरिव निश्चला।।

औचित्य०, का० २५

उचित निपातों का प्रयोग करने से काव्य की अर्थसंगति उसी प्रकार सुशोभित होती है जिस प्रकार सुयोग्य मन्त्री से राज्यलक्ष्मी स्थिर रहती है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित पद्य में निपात का उचित प्रयोग अभिनन्दनीय है –

सर्वे स्वर्गसुखार्थिनः क्रतुशतैः प्राज्यैर्यजन्ते जड़ा-
स्तेषां नाकपुरे प्रयाति विपुलः कालः क्षणार्धं च तत्।

क्षीणे पुण्यधने स्थितिर्न तु यथा वेश्यागृहे कामिनां
तस्मान्मोक्षसुखं समाश्रयत भोः! सत्यं च नित्यं च यत्।।

औचित्य०, का० २५, निदर्शन

"स्वर्ग का सुख वेश्याभोग के समान अन्त में दुःखजनक एवं अल्पकालिक है मोक्ष सुख निःसंदिग्ध व निश्चित है" यह प्रतिपादित करना कृतिकार का मुख्य लक्ष्य है। जिसकी प्रतिपत्ति "सत्यं च नित्यं च तत्" में 'च' निपात के प्रयोग से हो रही है। फलतः वाक्यार्थ में निपात का औचित्य उत्पन्न हो रहा है।

घ. लोकाचारगतऔचित्य -

लोकाचारगत औचित्य के अन्तर्गत हमने क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित नौ औचित्य प्रभेदों का ग्रहण किया है जो निम्नलिखित हैं : कालौचित्य, देशौचित्य, कुलौचित्य, व्रतौचित्य, तत्त्वौचित्य, सत्त्वौचित्य, सारसंग्रहौचित्य, अवस्थौचित्य तथा आशीर्वादौचित्य।

इस सन्दर्भ में हमें लोकाचार तथा काव्यकृति के अन्तःसम्बन्धों को समझ लेना आवश्यक है। यह एक सुपरीक्षित तथ्य है कि एक उत्तम काव्यकृति अपने युग के समसामयिक लोकजीवन का न केवल प्रतिबिम्बन करती है अपितु किसी न किसी अंश में युगीन लोकजीवन के मूल्यों की दिशा भी निर्देशित करती है। कहने को काव्यकृति में अभिव्यक्ति पाने वाले अनेक जीवनमूल्य सार्वकालिक एवं सार्वभौम भी समझ लिए जाते है, परन्तु ऐसा न भी माने तो भी कतिपय जीवनमूल्य परिस्थितियों के घातों-प्रतिघातों को सहते हुए ऐसे तो अवश्य ही कहे जा सकते हैं जिनकी कालिक एवं दैशिक आयति का विस्तार इतना अधिक होता है कि उन्हें युग विशेष में अधिक स्थायी और महत्वपूर्ण मान लिया जाता है। यही उनकी सार्वभौमता तथा सार्वकालिकता है।

काव्यकृति में ऐसे जीवनमूल्यों की अभिव्यक्ति उचित उपादानों के माध्यम से ही सम्भव हो पाती है। उचित उपादानों का कलात्मक साधन के रूप में प्रयोग करना ही कृतिकार का औचित्य कौशल होता है। कृतिकार अपने युगीन परिवेश में जिन जीवनमूल्यों, आदर्शों आकांक्षाओं तथा भावनाओं को प्रभावशाली अभिव्यक्ति प्रदान करना चाहता है, तदनुरूप ही उसे देश, काल, कुल और व्रत आदि उपादानों का ग्रहण करना होता है। ऐसा करने से काव्यकृति में उदीप्तिधर्मिता असाधारण कोटि तक पहुँच जाती है तथा काव्य अत्यन्त प्रभावी एवं सहृदयसंवेद्य हो उठता है। इन उपादानों का विपर्यय हो जाना अनौचित्य कहलाता है तथा ऐसा हो जाने से काव्य की प्रभविष्णुता का ह्रास होता है।

लोकाचारगत औचित्य की समीक्षा करते हुए हमें यह भी ध्यान देना होता है कि विवेचनीय कृति किस प्रकार की सामाजिक संरचना वाले लोकजीवन का प्रतिनिधित्व करती है, अर्थात् कृतिकार के युग में सामाजिक वर्ग क्या है, उनका वर्गचरित्र क्या है तथा उस लोकजीवन को अनुशासित करने वाली सामाजिक मूल्य मर्यादाएं क्या हैं? इस वास्तविकता को उपेक्षित करके किसी भी कृति में लोकाचारगत औचित्य की वस्तुगत मीमांसा कर पाना असम्भव है। कारण यह है कि लोक जीवन में वर्गात्मक ढांचे के परिवर्तन के साथ साथ सामाजिक मूल्यों में भी परिवर्तन हो जाता है अर्थात् पूर्ववर्ती युग विशेष के परिवेश विशेष में प्रशस्य जीवनमूल्य उत्तरवर्ती परिवर्तित युग में त्याज्य हो जाते हैं। उदाहरण के लिए देश विशेष, कालविशेष तथा कुलव्रतादि से जुड़े उत्कर्षभाव विपरीत प्रसंगों से क्षीण हो जाते हैं तथा अपना औचित्य खो बैठते हैं। अतः हमारी स्पष्ट मान्यता है कि देश, काल, कुल, व्रत आदि का काव्यगत औचित्य प्रस्तुत परिवेश में उनकी अनुरूपता ही हैं तभी वे काव्यकृति में चमत्कार, चरित और आह्लाद का उत्कर्ष कर पाते हैं।

देश और काल इन दो तत्वों का औचित्य हमें कवि के प्रतिपाद्य वर्ण्यवस्तु या घटनाक्रम की प्रकृति के अनुरूप देखना है। यदि वर्ण्यघटना से देश और काल की अनुरूपता बैठ जाती है तो निश्चित ही काव्य की चारुता में चार चांद लग जाते हैं। इस प्रकार का उचित निवेश पाठक की मानसिकता की, उसकी निजता और अपने देश काल के आयामों से उठाकर अपने साथ जोड़ लेता है अर्थात् कृति से तादात्म्य पाने वाली पाठक की चित्तवृत्ति का विस्तार कर देता है। इसके विपरीत औचित्य की भूमि क्षीण हो जाने पर चित्तवृत्ति का संकोच हो जाता है तथा अरुचि उत्पन्न हो जाती है।

कुल, व्रत, तत्त्व, सत्व, अवस्था और आशीर्वाद आदि इन सबका सीधा सम्बन्ध काव्यकृति में नायक आदि विविध श्रेणी के पात्रों के अभीष्ट व्यक्तित्व का सृजन करने से है। इनमें कवि द्वारा विन्यस्त जो भी तत्व व्यक्ति के सदृश या अनुरूप है वही उचित है, यही औचित्य निश्चित रूप से काव्य की कलात्मकता में उत्कर्ष ला देता है। कृतिकार अपने पात्रों को यदि अपना विशिष्ट स्वाभाविक और हृदयवर्धक व्यक्तित्व नहीं दे पाता तो पाठक की मानसिकता भी उसके साथ नहीं जुड़ पाती। दूसरे शब्दों में कहें तो पाठक कृति से कट जाता है।

कुल, वृत, तत्त्व एवं अवस्था का औचित्य परखते हुए यह विशेष रूप से ध्यान देने योग्य बात है कि इन उपादानों के सहारे प्राप्तव्य काव्योत्कर्ष की सिद्धि में कोई बाधक तत्त्व तो नहीं आ रहा है अर्थात् कृतिकार पूरी सावधानी से इनका उचित प्रयोग कर सका है अथवा नहीं। किसी भी बाधक तत्त्व के आ पड़ने से औचित्य की भूमि क्षीण हो जाती है और कुल आदि के उल्लेख द्वारा प्राप्त किया जाने वाला उत्कर्ष हाथ से निकल जाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा कुलादि के औचित्य-विवेचन को गहराई से

छानने पर हमारी उक्त मान्यताएँ स्वतः परिपुष्ट हो जाती हैं।

आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है–

कुलोपचितमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम्।
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम्।।

औचित्य, का० २८

अर्थात् "जिस प्रकार किसी पुरुष विशेष का कुलोपचित औचित्य उसके चारित्र्य का सविशेष उत्कर्षजनक होता है वैसे ही काव्य का कुलोपचित औचित्य सचेता, पाठकों के लिए काव्य के उत्कर्ष का जनक होता है।" हम समझते है कि क्षेमेन्द्र के शब्दों में तथ्य उपमा शैली में व्यर्थ ही अटककर रह गया है। इस उपमा के जाले को साफ करके यह कहना चाहिये कि जिस प्रकार लोकजीवन में लब्धप्रतिष्ठ कुल के नाम का उल्लेख व्यक्ति के चारित्र्य की गरिमा को बढ़ा देता है तथा उसके साथ लोकमानस में एक महीयसी धारणा उत्पन्न कर देता है वैसे ही काव्य में वर्ण्य व्यक्ति (नर अथवा नारी) के साथ कुल के नाम का उल्लेख भी उसके चारित्र्य के साथ पाठक का जुड़ाव पैदा करता है। दूसरे शब्दों में कहें तो वर्ण्य व्यक्ति के व्यक्तित्व को उत्कर्षसम्पन्न एवं हृदयावर्जक बना देता है। इस तथ्य को और स्पष्टता के साथ कहें तो वह काव्य का ही उत्कर्ष हो जाता है। परन्तु जहाँ तक कुल आदि का सम्बन्ध है वे तो सीधे सीधे व्यक्ति से सम्बन्ध रखते हैं न कि काव्य से।

कालौचित्य –

मेदिनी कोश में 'काल' शब्द के 'मृत्यु', महाकाल, समय, यम तथा कृष्णवर्ण अर्थ बताए गये हैं–

कालौ मृत्यौ महाकाले समये यमकृष्णयोः।

मेदिनी कोश १४५.७

तर्कशास्त्र में '**अतीतातिव्यवहार हेतुः कालः**' (आर्यभट्ट : तर्कसंग्रह) कहकर काल को लोकव्यवहार का असाधारण कारण बताकर उसमें भूतवर्तमानादि की कल्पना की गई है। व्याकरणशास्त्र में लट् आदि लकारों का 'काल' अर्थ बताते हुए उसे भूतवर्तमान व भविष्यत् रूप में तथा विशेषतः परोक्ष अनद्यतन आदि रूप में विभक्त किया गया है –

वर्तमाने परोक्षे श्वो भाविन्यर्थे भविष्यति।
विध्यादौ प्रार्थनादौ च क्रमाद्ज्ञेयालडादयः।।

कौण्डभट्टः वैया०, २२वीं कारिका

काव्य में काल विशेष का चित्रण करके कृतिकार प्रकृत अर्थ को चमत्कारी बनाया करता है। प्रकृत अर्थ के अनुरूप उचित काल का यही प्रयोग कालौचित्य कहलाता है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने कालौचित्य की चर्चा इस प्रकार की है–

कालौचित्येन यात्येव वाक्यमर्थेन चारुताम्।
जनावर्जनरम्येण वेषेणेव सतां वपुः।।

औचित्य०, का० २६

कालगत औचित्य से कोई भी सूक्ति इस प्रकार सुन्दर लगती है जिस प्रकार समानुरूप वेश विन्यास से सज्जनों का शरीर अपूर्व आनन्द प्राप्त करता है। उदाहरण के लिए क्षेमेन्द्र अपनी 'मुनिमतमीमांसा' का यह पद्य प्रस्तुत किया है –

योऽभूद्गोपशिशुः पयोदधिशिरश्चौरः करीषङ्कष-
स्तस्यैवाद्य जगत्पते खगपते शौरे मुरारे हरे।
श्रीवत्साङ्क! जडैरिति स्तुतिपदैः कर्णौ नृणां पूरितौ
ही कालस्य विपर्ययप्रणयिनी पाकक्रियाश्चर्यभूः।।

औचित्य०, का० २६, निदर्शन

यहाँ अमर्षरूपी विषमविष के आविष्कार से मुमूर्षू शिशुपाल, भगवान् श्रीकृष्ण के स्तुति बोधक पदों पर आश्चर्य प्रकट कर रहा है। रचनाकार ने 'अभूत्' भूतकालिक क्रियापद के प्रयोग के कारण आश्चर्य के परिपोष से सुन्दर अधिक्षेप स्वरूप वाक्य का औचित्य प्रकट कर दिया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र के वृत्तिगत विवेचन तथा उदाहरणों से यद्यपि कालौचित्य से तात्पर्य भूत, वर्तमान और भविष्यत् कालविशेष में प्रयुक्तक्रिया के औचित्य से ही है तथापि हमारी समझ में काल शब्द समयमात्र का प्रतीक है उसके औचित्य में वस्तुतः यह विवेचन भी होना चाहिये कि वसन्तग्रीष्म आदि ऋतुविशेष के प्रसंग में कवि द्वारा किया गया काव्य प्रयोग कहाँ तक उचित अथवा अनुचित है। हमारे इस विचार की पुष्टि डा० राजवंश सहाय हीरा के इस कथन से हो रही है कि "ग्रीष्मऋतु में अग्नि सेवन और हेमन्त ऋतु में जलविहार का वर्णन" काल विरुद्ध होता है। (भार० सा० कोष० पृष्ठ, ९८३)

इस दृष्टि से हम कालौचित्य की मीमांसा आगे चतुर्थ विमर्श में करेंगे।

देशौचित्य –

संस्कृत साहित्य में 'देश' शब्द स्थान या स्थल जैसे अर्थों में पाया जाता है।

देशः को नु जलावसेक शिथिलः।। मृच्छकटिकम् ३.१२

बाद में चलकर यह अर्थ विकसित हो गया और किसी भी भूभाग को देश की संज्ञा दी जाने लगी। इस भूभाग की अपनी अपनी प्रकृति और अपने अपने वातावरण होते हैं, वहाँ की प्रकृति और वातावरण के अनुरूप वर्णन करना ही देशौचित्य कहा जाता है। क्षेमेन्द्र का कथन है–

देशौचित्येन काव्यार्थः ससंवादेन शोभते।
परं परिचयाशंसी व्यवहारः सतामिव।।

औचित्य०, का० २७

अर्थात् "देश का उचित स्थान पर प्रयोग होने से काव्य इस प्रकार शोभायमान होता है जिस प्रकार घनिष्ठ परिचित सज्जनों का व्यवहार शोभायमान होता है।" उदाहरण के लिए महाकवि भवभूति के निम्नलिखित पद्य में देशौचित्य का निर्वाह दर्शनीय है :

पुरा यत्र स्त्रोतः पुलिनमधुना तत्र सरितां
विपर्यासं यातो घनविरलभावः क्षितिरुहाम्।
बहोर्दृष्टं कालादपरमि द्रवमन्ये वनमिदं
निवेशः शैलानां तदिदमिति बुद्धिं द्रढयति।।

औचित्य० का० २७, निदर्शन

यहाँ दण्डकारण्य में पहुँचे हुए भगवान् राम ने दण्डक वन के चिरकाल में होने वाले उलटफेर का जिस प्रकार वर्णन किया है वह देशौचित्य का सफल निदर्शन है।

कुलौचित्य -

काव्यशास्त्र के मान्य आचार्यों ने महाकाव्य के लक्षण निर्धारित करते समय नायक के कुल अथवा वंश की आवश्यकता पर जोर दिया था कि "महाकाव्य का नायक सद्वंशोद्भव क्षत्रिय होना चाहिए।

सद्वंशः क्षत्रियो वापि .....। विश्वनाथ, साहि० दर्प० ६.३१५

अर्थात् काव्य-नायक अच्छे कुल में उत्पन्न क्षत्रिय होना चाहिये जिससे यथावसर उसके वंश की परम्पराओं तथा आदर्शों का वर्णन होने से काव्य स्पृहणीय बन सके। वर्तमान युग में भले ही कविगण इस लक्षण

का ध्यान न रखते हों परन्तु कुछ दिन पूर्व तक लिखे गए महाकाव्य में यह लक्षण घटित देखा जा सकता है। आचार्य क्षेमेन्द्र का भी कुलगत दृष्टि से अभिप्राय यही है। उन्होंने कहा है–

कुलोपचिमौचित्यं विशेषोत्कर्षकारणम्।
काव्यस्य पुरुषस्येव प्रियं प्रायः सचेतसाम्।।

औचित्य०, का० २८

अर्थात् "जिस प्रकार किसी पुरुष का कुल परम्परा के अनुरूप वर्णन विशेष–उत्कर्ष का कारण होता है उसी प्रकार काव्य में कुलानुरूप वर्णन सहृदयों को प्रिय लगता है।" उदाहरण के लिए आचार्य क्षेमेन्द्र ने महाकवि कालिदास का यह पद्य प्रस्तुत किया है –

अथ स विषयव्यावृत्तात्मा यथाविधि सूनवे
नृपतिककुदं दत्त्वा यूने सितातपवारणम्।
मुनिवनतरुच्छायां देव्या तया सह शिश्रिये
गलितवयसामिक्ष्वाकूणामिदं हि कुलव्रतम्।।

औचित्य०, का० २८, निदर्शन

प्रस्तुत श्लोक में लोक प्रसिद्ध इक्ष्वाकु वंश के राजाओं के विशेष आचरण का समर्थन उनके कुलोपचित व्यवहार से किया गया है, जिससे तीनों कालों में स्थित इक्ष्वाकुवंशियों का कुलव्रत उचित रूप में प्रकट होकर काव्योत्कर्ष का कारण हो गया है।

व्रतौचित्य –

यहाँ व्रत से अभिप्राय किसी पात्र द्वारा धारण किए हुए नियम अथवा प्रतिज्ञा से है, इसी व्रत के अनुरूप उचित वर्णन को व्रतौचित्य कहते हैं। इस सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का कथन है–

काव्यार्थः साधुवादार्हः सद्व्रतौचित्यगौरवात्।
सन्तोषनिर्भरं भक्त्या करोति जनमानसम्।।

औचित्य०, का० २९

सद्व्रतों के औचित्य का गौरव होने से काव्यार्थ प्रशंसनीय हो जाता है। निम्नलिखित श्लोक में व्रतौचित्य का पूर्णतः निर्वाह हो रहा है –

अत्र वल्कलजुषः पलाशिनः पुष्परेणुभरभस्मभूषिताः।
लोलभृङ्गवलयाक्षमालिकास्तापसा इव विभान्ति पादपाः।।

औचित्य०, का० २९, निदर्शन

उक्त पद में तपोधनोचित व्रत के व्यंजक वल्कल, भस्म तथा अक्षसूत्र के प्रणयी पादपों का वर्णन हो रहा है। यहाँ व्रत का औचित्य इस रूप में देखा जा सकता है कि अचेतनों में भी वैराग्यकालीन विमल चित्तवृत्ति का वर्णन उत्पन्न हो गया है अतः यहाँ व्रतौचित्य है।

तत्त्वौचित्य –

तत्त्व शब्द का यूं तो दर्शनादि विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता है किन्तु सामान्यतः तत्त्व शब्द "तस्यभावः तत्त्वम्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार "वास्तविकता के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है। लोकजीवन में जिन वस्तुओं, विचारों, भावों या सिद्धान्तों को जिस रूप में माना जाता है उनका उसी रूप में प्रसंगानुरूप चित्रण तत्त्वौचित्य कहा जाएगा। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है–

काव्यं हृदयसंवादि सत्यप्रत्ययनिश्चयात्।
तत्त्वोचिताभिमानेन यात्युपादेयतां कवेः।।

औचित्य०, का० ३०

अर्थात् उचित तत्त्व का वर्णन करने से रुचिकर बना हुआ कवि का काव्य सत्य का प्रतिपादक होने से उपादेय हो जाता है।" यथा –

दिवि भुवि फणिलोके शैशवे यौवने वा
जरसि निधनकाले गर्भशय्याश्रये वा।
सहगमनसहिष्णोः सर्वथा देहभाजां
नहि भवति विनाशः कर्मणः प्राक्तनस्य।।

औचित्य०, का० ३०, निदर्शन

यहाँ रचनाकार का मुख्य उद्देश्य ''मनुष्यों के प्राक्तन कर्म को अमर बताना है।'' तत्वगत सभी लोगों को रुचिकर निःसंदिग्ध तत्त्व का यहाँ वर्णन होने से तत्वगत औचित्य प्रकट हो रहा है।

सत्वौचित्य –

यद्यपि ''सत्त्व'' शब्द का अर्थ भिन्न भिन्न क्षेत्रों में भिन्न भिन्न रूप में किया गया है किन्तु महाकाव्य के अंगरूप में आचार्य क्षेमेन्द्र का सत्त्व से अभिप्राय ''पात्र के अन्तर्बल'' (मानसिक प्रवृत्ति) से ही है। **सतो वस्तुनोभावः सत्त्वम्** इस व्याकरणिक व्युत्पत्ति से भी ''सत्त्व'' शब्द पात्र या वस्तु की सत्ता अथवा अन्तर्बल को ही प्रदर्शित कर रहा है। ''**क्रियासिद्धिः सत्वे भवति महतां नोपकरणे**'' इत्यादि पंक्तियों में महान् पुरुषों के इसी अन्तर्बल की ओर संकेत किया गया है। महाकाव्य में इसका अनुरूप प्रयोग सत्त्वौचित्य कहलाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने कहा है–

चमत्कारं करोत्येव वचः सत्त्वोचितं कवेः।
विचाररुचिरोदारचरितं सुमतेरिव।।

औचित्य०, का० ३१

''सत्त्व के अनुकूल कवि की वाणी उसी प्रकार चमत्कार उत्पन्न करती है जिस प्रकार विद्वानों का सुन्दर विचारयुक्त उदार चरित।'' उदाहरणार्थ क्षेमेन्द्र के ''चित्रभारत'' नाटक का यह पद्य देखिए –

नदीवृन्दोद्दामप्रसरसलिलापूरिततनुः
स्फुरत्स्फीत ज्वालानिविडवडवाग्निक्षतजलः।
न दर्पं नो दैन्यं स्पृशति बहुसत्त्वः पतिरपा-
मवस्थानां भेदाद्भवति विकृतिर्नैव महताम्।।

औचित्य०, का० ३१, निदर्शन

यहाँ युधिष्ठिर के सत्त्व को लक्ष्य बनाकर समुद्र के सत्त्व का उत्कर्ष दिखलाया गया है। नदियों के प्रवाह से जिसका शरीर बढ़ाया जाता है तथा वड़वाग्नि से जिसका शोषण होता है ऐसा सत्त्व युक्त समुद्र न अभिमान करता है और संकोच। क्योंकि महान् लोगों के चित्त में अवस्था के भेद से कोई विकार नहीं होता। गोस्वामी श्रीतुलसीदास जी का भी कथन ध्यातव्य है–

सुख हरषहिं नहिं दुःख बिलखाहीं।
दोउ समधीर धरहिं मनमाहीं।।

(रामचरितमानस, गोस्वामी तुलसीदास)

फलतः रचनाकार के इस कथन में युधिष्ठिर की गम्भीर, धीर, सत्त्ववृत्ति औचित्य के साथ प्रकट हो रही है।

सारसंग्रहौचित्य–

यह काव्यांग आचार्य क्षेमेन्द्र की मौलिक प्रतिभा का परिणाम है। इसकी चर्चा प्रत्यक्षतः अन्य किसी आचार्य द्वारा नहीं की गई। किसी भी विस्तृत व्याख्यान को सारभूत शैली में प्रस्तुत करना ही सारसंग्रह है। काव्य जगत् में इसके तीन रूप देखे जाते हैं–

१. वर्णनीय विषय का विस्तृत विवरण देते हुए उसके निष्कर्ष रूप में अन्त में सारसंग्रह। जैसे आद्यशंकराचार्य द्वारा रचित "चर्पटमंजरी-स्तोत्रम्"।

'भज गोविन्दं भज गोविन्दं गोविन्दं भज मूढमते'।

२. यहाँ विस्तृत विवरण न देकर केवल सारभूततत्त्व का संग्रह मात्र है।

अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीड़नम्।। (महाभारत)

३. अनेक विषयों का वर्णन करने के उपरान्त उन्हें निस्सार बताते हुए साररूप में अन्ध विषय का उल्लेख। सारसंग्रह के इन तीनों रूपों का काव्योचित प्रयोग ही सारसंग्रहौचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने इसी तृतीय रूप को स्वीकार करते हुए कहा है–

सारसङ्ग्रहवाक्येन काव्यार्थः फलनिश्चितः।
अदीर्घसूत्रव्यापार इव कस्य न सम्मतः।।

औचित्य०, का० ३४

अर्थात् काव्यार्थ का फल सार का संग्रह करने वाले वाक्य से निश्चित होता है। उदाहरणार्थ क्षेमेन्द्र की "मुनिमतमीमांसा" का यह श्लोक देखिए–

विविधगहनगर्भग्रन्थसम्भारभारै -
र्मुनिभिरभिनिविष्टैस्तत्त्वमुक्तं न किञ्चित्।
कृतरुचिरविचारं सारमेतन्महर्षे-
रहमिति भवभूमिर्नाहमित्येव मोक्षः।।

औचित्य०, का० ३४, निदर्शन

यहाँ सारसंग्रह स्वरूप वाक्य है कि "अहंकार संसार का मूल कारण है एवं उसके प्रति ममता का त्याग ही मोक्ष है।" इस संक्षिप्त भवक्षय के उपदेश से प्रकृतार्थ का औचित्य अत्यन्त पुष्ट हो गया है।

अवस्थौचित्य -

अवस्था का तात्पर्य आयु तथा 'वय' की विशेष स्थिति से तो है ही जीवन की सुख-दुःखात्मक विभिन्न दशाओं को भी अवस्था शब्द से जाना जाता है। इन सबका काव्य में उचित वर्णन अवस्थौचित्य है। शृंगार की संयोग-वियोग स्थिति तथा वय की बाल्य, यौवन, जरा इत्यादि दशाओं अथवा वयःसन्धि विशेष के वर्णन का परीक्षण इसी अवस्थौचित्य के अन्तर्गत किया जाता है। आचार्य क्षेमेन्द्र कहते हैं -

अवस्थौचित्यमाधत्ते काव्यं जगति पूज्यताम्।
विचार्यमाणरुचिरं कर्तव्यमिव धीमताम्।।

औचित्य०, का० ३६

अर्थात् "अवस्थौचित काव्य संसार में उसी प्रकार पूज्य होता है जिस प्रकार बुद्धिमानों का विचारपूर्वक किया गया मनोरमकार्य"। आचार्य क्षेमेन्द्र की 'लावण्यवती' का यह श्लोक देखिए-

मुक्तः कन्दुकविभ्रमस्तरलता त्यक्तैव बाल्योचिता
मौग्ध्यं निर्धुतमाश्रिता गजगतिर्भ्रूलास्यमभ्यस्यते।
यन्नर्मोर्मिषु निर्मितं मृगदृशा वैदग्ध्यदिव्यं वच-
स्तद्विद्मः सुभगाभिमानलटभाभावे निबद्धो भरः।।

औचित्य०, का० ३६ निदर्शन

प्रस्तुत श्लोक में बाल्यावस्था से यौवनावस्था में प्रवेश कर रही किसी नायिका का वर्णन किया जा रहा है। उसकी कन्दुकक्रीड़ा समाप्त हो गई है बाल्यावस्था की चंचलता भी नष्ट हो गई है। भोलापन भी दूर हो गया है। चाल में भी गजगति आ गयी है आदिवाक्यों में वयःसन्धि का सुन्दर वर्णन होने से औचित्य स्फुरित हो उठा है।

आशीर्वादौचित्य –

अमरकोश के अनुसार हिताशंसा (मंगलकामना) का ही नाम आशीर्वाद है। **स्त्रीत्वाशीर्हिताशंसा हि दंष्ट्रयोः** अमर० २२८ नानार्थवर्गः

कोशान्तर में प्रिय वाक्य या प्रिय अभिलाषा का वचन ही आशीर्वाद है। नाटक की प्रस्तावना तथा भरतवाक्य के प्रयोग में तो यह आशीर्वाद वर्णित होता ही है, महाकाव्य के अन्तर्गत महापुरुषों द्वारा उचित पात्र के हितार्थ मंगलकामनाओं के रूप में भी इसका निरूपण होता है। इसका काव्यानुरूप उचित प्रयोग ही आशीर्वादौचित्य है। आचार्य क्षेमेन्द्र का विचार है–

पूर्णार्थदातुः काव्यस्य सन्तोषितमनीषिणः।
उचिताशीर्नृपस्येव भवत्यभ्युदयावहा।।

औचित्य०, का० ३९

अर्थात् "मनीषियों को सन्तोष प्रदान करने वाले पूर्ण अर्थयुक्त काव्य में आशीर्वचन का प्रयोग उसी प्रकार उचित है जिस प्रकार राजा के लिए प्रयुक्त आशीर्वचन से अभ्युदय होता है।" उदाहरणार्थ 'गंगक' कवि के इस पद्य में आशीर्वाद का उचित प्रयोग द्रष्टव्य है –

स कोऽपि प्रेमार्द्रः प्रणयपरिपाकप्रचलितो
विलासोऽक्ष्णां देयात्सुखमनुपमं वो मृगदृशाम्।
यदाकूतं दृष्ट्वा पिदधति सुखं तूणविवरे
निरस्तव्यापारा भुवनजयिनः पञ्चविशिखाः।।

औचित्य०, का० ३९, निदर्शन

प्रस्तुत पद्य में "प्रणय–परिपाक से प्रवृत्त होने वाला मृगनयनियों के नेत्र का वह विलास आप सभी को सुख प्रदान करे" – यह प्रतिपादित हो

रहा है। आशीर्वाद का औचित्य यहाँ इस प्रकार देखा जा सकता है कि 'प्रिया के नेत्र विभ्रम सुखदायक होते हैं अतः आप सभी को सुख प्रदान करें, यह आशीर्वाद उचित ही है।

गुणौचित्य -

महाकाव्य के औचित्य आकलन का एक अन्य महत्वपूर्ण पक्ष महाकाव्य रचना में अभिव्यक्त रस के पोषक ओज आदि गुणों के औचित्य की समीक्षा करना है। काव्यसमीक्षा के अधिकांश आचार्यों का गुणों के प्रयोग के सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता है, उसका निष्कर्ष संक्षिप्त शब्दों में देखा जा सकता है कि– "गुण रस के नित्य धर्म हैं, जिस प्रकार शरीर में आत्मा के शौर्यादि नित्यधर्म आत्मतत्त्व की श्रीवृद्धि किया करते हैं उसी प्रकार काव्य में रस के माधुर्यादि नित्यगुण अपने उचित अर्थात् रसानुरूप प्रयोग द्वारा रस तत्त्व को उत्कर्ष दिया करते हैं–

ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवाऽऽत्मनः।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः।।

का० प्र०, उल्लास ८/६६

आचार्य मम्मट ने इस कथन में जहाँ एक और अपने से पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन तथा आचार्य अभिनवगुप्त आदि आचार्यों की मान्यताओं में आवश्यक परिष्कार किया है, वहीं दूसरी ओर गुण को काव्य का उत्कर्षाधायक तत्व मानने पर पर्याप्त बल दिया है। आचार्य वामन से चले आ रहे १० शब्द गुणों तथा १० अर्थ गुणों को अनपेक्षित विस्तार मानते हुए केवल ३ गुणों में ही उपर्युक्त २० गुणों का वैज्ञानिक शैली में समावेश कर देना मम्मट की अपनी मौलिक देन है–

ओजः प्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारता-
र्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः।

वामन, काव्या० ३.१.४

ये तीन गुण क्रमशः माधुर्यं ओज व प्रसाद हैं।

'माधुर्य्यौजः प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश'।

मम्मट, का० प्र० उल्लास ८ सूत्र ६८

आचार्य मम्मट ने इन तीनों गुणों का परिचय कराते हुए कहा है–

'आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम्'।

का० प्र०, उल्लास ८ सूत्र ६८

अर्थात् मन के द्रवीभाव का कारणरूप व शृंगार रस में रहने वाला आह्लादस्वरूपत्व ही माधुर्यगुण कहलाता है। करुण, विप्रलम्भ तथा शान्तरस के प्रसंग में इसका प्रयोग अधिक चमत्कारी होता है। ट वर्ग को छोड़कर शेष स्पर्श वर्ण (क से लेकर म तक) ह्रस्व रकार तथा स्वल्पसमासवाली रचना में माधुर्य गुण सहज ही देखा जा सकता है–

मूर्ध्नि वर्गान्त्यगाः स्पर्शा अटवर्गा रणौ लघू।
अवृतिर्मध्यवृत्तिर्वा माधुर्ये घटना तथा।।

का० प्र०, उल्लास ८ सूत्र ९९

दीप्त्यात्मविस्तृतेर्हेतुरोजो वीररसस्थितिः।

का० प्र०, उल्लास ८ सूत्र ९२

अर्थात् चित्त की द्रुति का कारण आह्लाद जैसे माधुर्य कहलाता है वैसे ही चित्त के विस्तार की हेतुभूत दीप्ति ओज कहलाती है। यहाँ दीप्ति से अभिप्राय चित्त के धधक उठने से है।

दीप्तिः प्रतिपत्तुर्हृदये विकासविस्तारप्रज्वलनस्वभावा।

–ध्वन्यालोकलोचन २.९

दूसरे शब्दों में कहें तो ओज वह गुण है, जिससे पाठक का हृदय धधक उठे। यह ओज यद्यपि वीररस में होता है किन्तु बीभत्स और रौद्र रसों में इसके प्रयोग को आचार्यगण विशेष चमत्कारी मानते हैं (आनन्दवर्धन, ध्वन्या० २.९, मम्मट, का० प्र० ९.८० विश्वनाथ, साहि० दर्प० ८.४)। वर्ग के पंचम वर्ण को छोड़कर, रेफयुक्त वर्ण, दो समान वर्ण, ट वर्ग के णकार को छोड़कर शेष वर्ण, शकार व षकार, दीर्घ समास तथा उद्धत (विकट) रचना– ये सब ओज गुण के व्यंजक होते हैं–

योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो, रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि।।

का० प्र०, उल्लास ८ सूत्र १००

शुष्केन्धनाग्निवत्स्वच्छजलवत्सहसैव यः।
व्याप्नोत्यन्यत्प्रसादोऽसौ सर्वत्र विहितस्थितिः।।

का० प्र०, उल्लास ८, सूत्र ९४

अर्थात् जिस प्रकार सूखे इन्धन में अग्नि अथवा स्वच्छ वस्त्र में जल सहसा व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार जो सर्वत्र व्याप्त हो जाता है, वह सब रसों में रहने वाला प्रसाद गुण है। जिसके श्रवण मात्र से ही अर्थ की प्रतीति हो जाय वह सब वर्णों, समासों व रचनाओं में रहने वाला प्रसाद गुण है।

श्रुतिमात्रेण शब्दात्तु येनार्थप्रत्ययो भवेत्।
साधारणः समग्राणां स प्रसादो गुणो मतः।।

का० प्र०, उल्लास ८, सूत्र १०१

उपर्युक्त तीनों गुणों के स्वरूप विवेचन में तीन शब्द विशेष रूप से विचारणीय हैं – द्रुति, विस्तृति तथा व्याप्ति जिनका क्रमशः माधुर्य ओज

व प्रसाद से अन्तरंग सम्बन्ध है। माधुर्य से जहाँ चित्त द्रवित होता है वहीं ओज से उसका विस्तार हो जाता है। प्रसाद गुण के द्वारा उसकी सर्वत्र व्याप्ति हो जाती है। फलतः पाठक का चित्त विश्वचेतना के रूप में आप्लुत हो उठता है उसकी मनोभूमि विश्वभूमि का रूप ले लेती है। काव्यशास्त्र के शब्दों में काव्य द्वारा किया गया चित्त का यही साधारणीकरण रसानुभूति का असाधारण हेतु बन जाता है। स्मरणीय है कि रसों की कोमलता व कठोरतादि प्रकृति के अनुरूप आचार्यों ने गुणों को माधुर्य ओज तथा प्रसाद नामों से अभिहित करके उनके रसानुरूप प्रयोग को ही काव्य का सौन्दर्यवर्धक उपादान स्वीकार किया है।

इस प्रसंग में औचित्यतत्त्व के व्याख्याता आचार्य क्षेमेन्द्र का यह कथन उल्लेखनीय है–

प्रस्तुतार्थोचितः काव्ये भव्यः सौभाग्यवान्गुणः।
स्यन्दतीन्दुरिवानन्दं संभोगावसरोदितः।।

औचित्य०, का० १४

अर्थात् 'प्रस्तुत अर्थ के अनुकूल माधुर्यादि गुणों का सन्निवेश इस प्रकार आह्लादजनक होता है जिस प्रकार संभोगावसर में उदित हुआ चन्द्रमा सभी को आह्लादित करता है। यहाँ क्षेमेन्द्र का "प्रस्तुतअर्थ" से अभिप्राय कवि द्वारा प्रतिपादित रस की विभिन्न अवस्थाओं से है जैसा कि उनके एकाधिक उदाहरणों से स्पष्ट है। भट्टनारायण की इस कविता में ओजगुण का समुचित प्रयोग देखिए–

महाप्रलयमारुतक्षुभितपुष्करावर्तक-
प्रचण्डघनगर्जितप्रतिरवानुकारी मुहुः।
रवः श्रवणभैरवः स्थगितरोदसीकन्दरः,
कुतोऽद्य समरोदधेरयमभूतपूर्वःपुरः।।

औचित्य०, का० १४, निदर्शन

महाप्रलय की वायु से क्षुब्ध किए गए पुष्कर और आवर्तक मेघों के प्रचण्ड एवं घनघोर गर्जन की प्रतिध्वनि के समान सुनने में भयावह आकाश एवं पृथ्वी के अन्तर को भर देने वाला यह अभूतपूर्व शब्द आज समरोदधि में कहाँ से उत्पन्न हुआ है?

यहाँ ओजस्वी एवं श्रेष्ठ योद्धा अश्वत्थामा के ऊर्जस्वी प्रताप (प्रस्तुत अर्थ) के अनुरूप प्रयुक्त वाक्यों से ओज नामक काव्य का गुण भासित होता है। इस प्रकार ओज नामक गुण से अश्वत्थामा की श्रेष्ठता सहस्त्रगुणा विक्रमौचित्य को गौरवान्वित करती है।

अलंकारौचित्य -

अलंकार शब्द का अर्थ है आभूषण। काव्य की शोभा बढ़ाने वाले तत्व ही अलंकार के नाम से अभिहित किए जाते हैं। काव्यशास्त्र में अलंकार के उपमादि प्रकारों की सूक्ष्मताओं पर पर्याप्त विवेचन हुआ है। महाकाव्य जैसी रचना में अलंकार काव्यभाषा का स्वभावतः सौन्दर्य साधन बनते हैं। इनके प्रयोगगत औचित्य पर आचार्य आनन्दवर्धन का यह कथन द्रष्टव्य है–

''अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः''

आनन्दवर्धन, ध्वन्या० २.१६

अर्थात् विशेष प्रयत्न किए बिना स्वभावतः जिन अलंकारों का कवि द्वारा प्रयोग होता है वे ही अलंकार ध्वनि के अन्तर्गत माने जा सकते हैं। इतना ही नहीं आचार्य आनन्दवर्धन का यह भी कहना है कि ''अलंकार प्रयोग की पूर्णशक्ति होते हुए भी रस के अनुरूप ही उनकी योजना होनी चाहिये''–

अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्।।

आनन्दवर्धन ध्वन्या० ३.१४

रस भावादि को पुष्ट करने के उद्देश्य से जब काव्य में अलंकारों का प्रयोग किया जाता है तभी उनका अलंकारत्व सिद्ध होता है। क्योंकि काव्य में अलंकार्य वस्तु रस ही है।

ध्वन्यालोक के प्रसिद्ध टीकाकार आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने अपनी लोचन नामक टीका में अलंकार के प्रयोग की चेतावनी देते हुए कहा है कि "अलंकार अलंकार्य के अनुरूप होने चाहिये यदि मृत शरीर को कटकादि अथवा संन्यासी को कुण्डलादि अलंकार पहना दिये जाएँ तो वे अलंकार्य के अभाव अथवा अलंकार्य के अनौचित्य के कारण शोभाधायक नहीं होंगे–"

तथाहि अचेतनं शव शरीरं कुण्डलाद्युपेतमपि न भाति अलङ्कार्यस्याभावात् यतिशरीरं कटकादियुक्तं हास्यावहं भवति अलङ्कार्यस्यानौचित्यात्।

ध्वन्या०, लोचन टीका – पृ० ७५

आचार्य क्षेमेन्द्र का अलंकारौचित्य के सम्बन्ध में कथन है–

अर्थौचित्यवता सूक्तिरलङ्कारेण शोभते।
पीनस्तनस्थितेनेव हारेण हरिणेक्षणा।।

औचित्य०, का० १५

अर्थात् "प्रस्तुतार्थ के अनुकूल अलंकारों के द्वारा सूक्ति उसी प्रकार सुन्दर लगती है जिस प्रकार मृगनयनी नायिका के पयोधरों पर स्थित हार सुशोभित होता है।" उदाहरण के लिए निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य है:

विश्रान्तविग्रहकथो रतिमाञ्जनस्य
चित्ते वस न्प्रियवसन्तक एव साक्षात्।
पर्युत्सुको निजमहोत्सवदर्शनाय
वत्सेश्वरः कुसुम चाप इवाभ्युपैति।।

औचित्य० का० १५, निदर्शन

प्रस्तुत श्लोक में श्रीहर्ष ने वत्सराज की उपमा कामदेव से देकर शृंगाररस के प्रसंग को अत्यधिक चमत्कृत बना दिया है। अतः यहाँ अलंकारौचित्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

यहाँ क्षेमेन्द्र का प्रस्तुत अर्थ से तात्पर्य रस से न होकर वर्ण्य विषय मात्र से है जैसा कि उनके उदाहरणों– प्रत्युदाहरणों से स्पष्ट है। अलंकार के उचित स्थान विनिवेश को स्पष्ट करते हुए क्षेमेन्द्र ने "**कण्ठे मेखलया०**" इत्यादि पद्य में अलंकारों के अनुचित प्रयोग को रुचि प्रकर्ष में बाधक ही माना है। इतना ही क्यों उन्होंने तो स्पष्ट कहा है:

उचितस्थानविन्यासादलङ्कृतिरलङ्कृतिः।

औचित्य०, का० ६

अर्थात् उचित स्थान में विन्यस्त अलंकार ही अलंकार कहा जाता है अन्य नहीं।

रसौचित्य :

वस्तु, विषय तथा प्रसंगादि के अनुरूप उचित रस का प्रतिपादन ही रसौचित्य है। महाकाव्य जैसी महती रचना में रस की एक विशेष स्थिति होती है। संस्कृत के तो प्रायः सभी महाकाव्य किसी न किसी रस की प्रधानता रखते ही हैं। रसविधान की प्रक्रिया का सफल निर्वाह ही उसका औचित्य है तथा असफल रह जाना ही अनौचित्य है। यद्यपि रस काव्य की आत्मा है और काव्य का सर्वातिशायी महत्वशाली तत्व है, काव्य के

सभी अंग उसी के पोषण में रत रहे हैं तथापि रस को भी औचित्य के अनुशासन से बाहर नहीं रखा जा सकता। यही कारण है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यरस के साथ औचित्य तत्व का घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते हुए औचित्य के उपनिबन्धन को रस का परम मर्म तथा एक मात्र अनौचित्य को रसभंग का असाधारण कारण बताकर रसौचित्य की महनीयता प्रतिपादित की है–

अनौचित्यादृतेनान्यद्रसभङ्गस्यकारणम् ।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३.१५

उन्होंने कहा है कि 'विभाव अनुभाव स्थायीभाव और संचारी भाव के औचित्य से ऐतिहासिक तथा कल्पित काव्य शरीर का निर्माण होना चाहिये। इतना ही नहीं रस औचित्य के विपरीत ऐतिहासिक क्रमप्राप्त कथ्यांशों का त्याग तथा उचित रसानुकूल नवीन कथ्यांशों की कल्पना का आदेश भी आनन्दवर्धन ने प्रयोक्ताओं को दिया है (आनन्दवर्धन, ध्वन्या० ३.११)। आचार्य अभिनवगुप्तपाद ने भी औचित्य के बिना रस की स्थिति सहृदयों के लिए हृदयावर्जक ही बतायी है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि रसविधान में औचित्य की स्थिति अनिवार्य है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य को स्पष्ट करते हुए कहा है–

कुर्वन्सर्वाशये व्याप्तिमौचित्यरुचिरो रसः।
मधुमास इवाशोकं करोत्यङ्कुरितं मनः।।

औचित्य०, का० १६

अर्थात् ''समस्त सहृदयों के हृदय में अपनी व्यापकता बनाते हुए औचित्य से चमत्कृत रस सज्जनों को उसी प्रकार पुलकित कर देता है

जिस प्रकार अशोक वृक्ष को मधुमास। इतना ही नहीं क्षेमेन्द्र ने तो **''औचित्यं रस सिद्धस्य स्थिरं काव्यस्य जीवितम्''** औचित्य को रससिद्ध काव्य की जीवनी शक्ति बताकर रस और औचित्य की पूर्ण अनिवार्य सम्बन्धता स्पष्ट कर दी है।

अभिप्रायौचित्य -

'अभिप्राय' का आशय पात्र के अभिप्रेत अर्थ या तात्पर्य से है। उसका काव्य में सरल एवं मनोरम पदावली द्वारा अनुरूप वर्णन ही अभिप्रायौचित्य है। अभिप्रायौचित्य के लिए भाषा के माध्यम का सरल होना लोकसिद्ध भी है क्योंकि अर्थ की अस्पष्टता पर प्रत्येक श्रोता की वक्ता से यही जिज्ञासा होती है कि 'तुम सरल शब्दों में अपना अभिप्राय बताओ'। आचार्य क्षेमेन्द्र ने अभिप्राय तत्व के औचित्य के सम्बन्ध में कहा है–

अकदर्थनया सूक्तमभिप्रायसमर्थकम्।
चित्तमावर्जयत्वेव सतां स्वस्थमिवार्जवम्।।

औचित्य०, का० ३२

अर्थात् 'बिना परिश्रम किए अभिप्राय को प्रकट करने वाली सूक्ति पाठक को उसी प्रकार आवर्जित करती है जिस प्रकार सज्जनों की स्वाभाविक सरलता चित्त को आवर्जित करती है। उचित एवं सरल अभिप्राय के प्रयोग से काव्यार्थ किस प्रकार उत्कर्ष को प्राप्त होता है इसकी पुष्टि के लिए क्षेमेन्द्र ने यह श्लोक प्रस्तुत किया है–

श्येनाङ्घ्रिग्रहदारितोत्तरकरो ज्याङ्कप्रकोष्ठान्तर,
आताम्राधरपाणिपादनयनप्रान्त पृथूरःस्थलः।
मन्येऽयं द्विजमध्यगो नृपसुतः कोऽप्यम्ब! निःशम्बलः,
पुत्र्येवं यदि कोष्ठमेतु सुकृतैः प्राप्तो विशेषातिथिः।।

औचित्य०, का० ३२, निदर्शन

उपर्युक्त पद में एक स्वैरविहारिणी एक युवक को देखने के पश्चात् अपने मां से उसको बुलाने का अभिप्राय उक्त स्वाभाविक शब्दों में प्रकट कर रही है, जिससे यहाँ अभिप्राय को सीधे-सीधे सूचित करने वाला औचित्य दिखाई पड़ता है।

स्वभावौचित्य -

'स्वभाव' से तात्पर्य वस्तु अथवा पात्र की प्रकृति से है। किसी भी वस्तु प्राणी अथवा पात्र के स्वभाव का काव्यानुरूप वर्णन ही स्वभावौचित्य होता है। कामिनी की चपलता, राक्षसों की उद्दण्डता, महर्षियों की विरक्ति, सिंह की परोत्कर्षसहता, सलिल की शीतलता आदि स्वभावों का चित्रण इसी औचित्य के अन्तर्गत आते हैं। काव्य में इसका महत्व आचार्य क्षेमेन्द्र ने इस प्रकार बतलाया है-

स्वभावौचित्यमाभाति सूक्तीनां चारु भूषणम्।
अकृत्रिममसामान्यं लावण्यमिव योषिताम्।।

औचित्य०, का० ३३

अर्थात् "जिस प्रकार साधारण तथा स्वाभाविक लावण्य स्त्रियों का भूषण होता है उसी प्रकार काव्य का सुन्दर भूषण उसका स्वभावानुरूप वर्णन होता है"। अपने कथन की पुष्टि में क्षेमेन्द्र ने अपनी मुनिमतमीमांसा का निम्नलिखित पद्य प्रस्तुत किया है-

कर्णोत्तालितकुन्तलान्तनिपतत्तोयक्षणासङ्गिना
हारेणेव वृतस्तनी पुलकिता शीतेन सीत्कारिणी।
निर्धौताञ्जनशोणकोणनयना स्नानावसानेऽङ्गना
प्रस्यन्दत्कबरीभरा न कुरुते कस्य स्पृहार्द्रं मनः।।

औचित्य०, का०, ३३ निदर्शन

उपर्युक्त पद्य में स्नानोत्तीर्णा युवतियाँ किसके चित्त को गीला न करेंगी, जो स्वयं गीली हैं वे दूसरे को भी गीला बना देती है। स्त्रियों के स्नानोतीर्णा स्वभाव का उचित वर्णन होने से यहाँ स्वभावौचित्य का पूर्ण निर्वाह हुआ है।

प्रतिभौचित्य -

भारतीय आचार्यों की दृष्टि में काव्य या साहित्य रचना की जन्मजात शक्ति का नाम प्रतिभा है। आचार्य भट्टतौत ने तथा अभिनवगुप्तपाद ने प्रतिभा की परिभाषा क्रमशः इस प्रकार दी है – ''**प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभामता**'' (भट्टतौत, काव्यकौतुक) **प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा** (ध्वन्यालोक लोचन टीका) अर्थात् नये नये अर्थों (कथ्यों) के उन्मेष से युक्त प्रज्ञा का नाम प्रतिभा है तथा अपूर्ववस्तु के निर्माण में सक्षम प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहते हैं। इन दोनों आचार्यों के कथन का अभिप्राय यही है कि नूतन कल्पना शक्ति का नाम ही प्रतिभा है। काव्य में सौन्दर्य आने के लिए उसका यथावसर उचित प्रयोग ही प्रतिभौचित्य कहलाता है। महाकाव्यगत औचित्य आकलन की दृष्टि से इस प्रतिभा के औचित्य का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रायः सभी काव्यशास्त्रीय आचार्यों ने इसके महत्व पर प्रकाश डाला है तथा काव्य के हेतुओं का निरूपण करते समय इसे सर्वप्रथम स्थान दिया है। आचार्य क्षेमेन्द्र का कथन है–

प्रतिभाभरणं काव्यमुचितं शोभते कवेः।
निर्मलं सुगुणस्येव कुलं भूतिविभूषितम्।।

औचित्य०, का० ३५

अर्थात् ''कवि का काव्य प्रतिभारूपी आभरण से इस प्रकार सुशोभित होता है जिस प्रकार सत्कुलीन व्यक्ति का कुल, ऐश्वर्य से विभूषित होता है।' अपनी 'लावण्यवती' का उदाहरण प्रस्तुत करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र

कहते हैं –

अदय! दशसि किं त्वं बिम्बबुद्ध्याधरं मे
भव चपल निराशः पक्वजम्बूफलानाम्।
इति दयितमवेत्य द्वारदेशाप्तमन्या
निगदति शुकमुच्चैः कान्तदन्तक्षतौष्ठी।।

औचित्य०, का० ३५, निदर्शन

इस पद्य में अपने वास्तविक पति को विश्वास दिलाने तथा अपना रहस्य छिपाने के लिए प्रयुक्त प्रज्ञाचातुर्य का सुन्दर वर्णन प्रतिभा का औचित्य प्रकट करता है।

विचारौचित्य –

विवेच्य वस्तु से सम्बन्ध रखने वाला चिन्तन सन्तान ही विचार है। वस्तु के एक होने पर भी उसके सम्बन्ध में किया जाने वाला विचार अनेक रूप हो सकता है। विवेच्य विषय के साथ विचारों का जो समन्वय है और साथ ही त्रुटिपूर्णता का जो अभाव है उसको आचार्य विचारौचित्य के रूप में ग्रहण करते हैं। उल्लेखनीय है कि एक वेद्य के विषय में विचारों की अनेकता विचार शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ से स्वतः पुष्ट हो रही है क्योंकि 'वि' उपसर्ग पूर्वक 'चर्' धातु से भावार्थक 'घञ्' प्रत्यय करने पर विचार शब्द निष्पन्न होता है। 'चर्' धातु का प्रकृत में गति अर्थ है और गति का अभिप्राय ज्ञान, गमन व प्राप्ति से है (चरगतिभक्षणयो; सिद्धान्त० भ्वादिगण)। स्पष्ट है कि एक ही वस्तु के पास विभिन्न व्यक्ति विभिन्न दृष्टिकोणों से पहुँचते हैं व ज्ञाता के रूप में उन्हें विभिन्न रूपों में उसका ज्ञान होता है। फलतः एक ही वस्तु विभिन्न प्रापकों को विभिन्न रूप में प्राप्त होती है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने विचार का औचित्य प्रतिपादित करते हुए लिखा है–

उचितेन विचारेण चारुतां यान्ति सूक्तयः।
वेद्यतत्त्वावबोधेन विद्या इव मनीषिणाम्।।

औचित्य०, का० ३७

अर्थात् 'उचित विचार के सन्निवेश से सूक्तियाँ इस प्रकार चारुता को प्राप्त होती है जिस प्रकार वेद्य तत्व का ज्ञान होने से मनीषियों की विद्याएँ। संक्षेप में आचार्य क्षेमेन्द्र का विचारौचित्य से तात्पर्य वेद्य वस्तु के सम्बन्ध में चलने वाले विचार प्रवाह के परस्पर सामंजस्य व अत्रुटितता से ही है।

नामौचित्य :

किसी भी वस्तु के गुण, कर्म आदि को ध्यान में रखकर उसे जो संज्ञा दी जाती है वही 'नाम' शब्द से अभिहित की जाती है, उस नाम का प्रसंगानुरूप उचित प्रयोग ही नामौचित्य है। इससे काव्य में सौन्दर्य को बहुत बल मिलता है। आचार्य क्षेमेन्द्र ने नामौचित्य की चर्चा इस प्रकार की है–

नाम्ना कर्मानुरूपेण ज्ञायते गुणदोषयोः।
काव्यस्य पुरुषस्येव व्यक्तिः संवादपातिनी।।

औचित्य०, का० ३८

अर्थात् ''उचित नाम प्रयोग से काव्य के गुण दोषों की अभिव्यक्ति उसीप्रकार होती है जिसप्रकार पुरुष के नाम से उसका गुणदोष प्रकट होता है। उदाहरणार्थ महाकवि कालिदास के प्रस्तुत श्लोक में नाम का औचित्य देखिए :

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारः
प्रथममपि मतो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातान्दोलितापाण्डुपत्रै-
रुपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्कुरेषु ।।

औचित्य०, का०, ३८ निदर्शन

प्रस्तुत श्लोक का अभिप्राय है कि असुलभ वस्तु की प्रार्थना से भी न रुकने वाला 'पंचबाण' पहले से ही मेरे मन के टुकड़े टुकड़े कर रहा है। इस वाक्य में कामदेव के लिए 'पञ्चबाण' नाम का प्रयोग सर्वथा उचित है क्योंकि जब वह कामदेव किसी विरही के मन के टुकड़े टुकड़े करता है तो पंचबाण बनकर ही करता है।

वृत्तौचित्य -

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपनी कृति ''औचित्यविचारचर्चा'' में काव्य समीक्षा के लिए जिन २७ मापदण्ड़ों को सुस्थिर किया है उनमें 'वृत्तौचित्य' की चर्चा नहीं है। जबकि अपने ही 'सुवृत्ततिलक' नामक ग्रन्थ में 'वृत्तौचित्य' पर उन्होंने गहराई के साथ विचार किया है, इससे स्पष्ट होता है कि आचार्य की दृष्टि में वृत्त का औचित्य विशेष स्मरणीय है। इसका औचित्य परखे बिना किसी भी काव्य की समीक्षा अपूर्ण है।

छन्दःशास्त्र के आचार्यों में पिंगलनाग (छन्दःसूत्र), जनाश्रय (छन्दोविचित्ति), क्षेमेन्द्र (सुवृत्ततिलक), हेमचन्द्र (छन्दोऽनुशासनम्), केदारभट्ट (वृत्तरत्नाकर) तथा गंगादास (छन्दोमंजरी) के नाम विशेष उल्लेखनीय है। जहाँ तक इन आचार्यों के विवेचन का प्रश्न है वहाँ क्षेमेन्द्र को छोड़कर अन्य सभी ने लक्षण तथा उदाहरण तो दिए हैं किन्तु विवेचित

छन्दों के प्रयोग पर लेश भी विचार नहीं किया, जबकि आचार्य क्षेमेन्द्र ने लक्षण तथा उदाहरण देने के साथ ही उनके प्रयोग के औचित्य की भी पर्याप्त चर्चा की है। क्षेमेन्द्र का कथन है कि "काव्य में रस तथा वर्णनीय वस्तु के अनुसार ही छन्दों का प्रयोग करना चाहिए। शास्त्रज्ञों को चाहिये कि उपदेशात्मक शास्त्रकाव्य में अतिदीर्घ छन्दों का प्रयोग न करके रसानुकूल छन्दों का ही प्रयोग करें (क्षेमेन्द्र : सुवृ० ति०, टीकाकार श्रीब्रजमोहन झा, विन्यास ३, कारि० ७.८)। कुछ छन्दों के विनियोग के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र का विचार है कि शृंगार रस के प्रसंग में उपजाति (सुवृ० ति० ३.१७) सन्धिविग्रहादि गुणों से प्रशस्त नीति के वर्णन में वंशस्थ वीर और रौद्ररसों के सांकर्य में वसन्ततिलका (वही ३.१९) तथा परिच्छेद का विभाजन करते समय 'शिखरिणी' (वही ३.२०) छन्द का प्रयोग शोभावर्धक तथा प्रभावशाली होता है।

विस्तारमय से विस्तृत चर्चा न करते हुए यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि उक्त प्रसंगों में इन छन्दों का प्रयोग बहुलता से मिलता है तथा शोभावर्धक होता है। रचनाकारों को स्वतन्त्रता है कि वे अपने प्रतिपाद्य को हृदयग्राही बनाने के लिए किसी भी छन्द का प्रयोग करें। इस सम्बन्ध में आचार्य क्षेमेन्द्र का यह निर्देश हमारे कथन की पर्याप्त पुष्टि करता है–

वृत्ते यस्य भवेद् यस्मिन्नभ्यासे न प्रगल्भता।
स तेनैव विशेषेण स्वसन्दर्भ प्रदर्शयेत्।।

अर्थात् अभ्यास के कारण जिस कवि की जिस छन्द में प्रगल्भता (प्रौढ़ता) हो उसको चाहिये कि अपनी रचना में उसी छन्द का प्रयोग करे। विशेष स्मरणीय यही है कि जो भी छन्द प्रयुक्त हो वह रस, भाव व विषय को भरपूर उत्कर्ष देने वाला हो तभी वह पाठक की मानसिकता से

सहज ही में जुड़ सकता है।

इस प्रकार आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा विवेचित औचित्य-प्रभेदों के प्रकाश में महाकाव्य रचना में औचित्य आकलन के मानदण्ड स्थिर करते हुए हम कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त करते हैं -

१- औचित्य एक महत्वपूर्ण काव्य तत्व है जिसके विशिष्ट मापदण्ड स्थिर करके साहित्य की किसी भी विधा की समीक्षा की जा सकती है।

२- आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा निर्धारित औचित्यभेद भाषा तथा कथ्य, व्यक्तिगत चारित्र्य, समष्टिगत मूल्य एवं कला के लोकोत्तर वैभव आदि सभी उपादानों का स्पर्श करते हैं अतः उन्हें पूरी व्यापकता में समझना उचित है।

३- महाकाव्य रचना की औचित्य समीक्षा के लिए प्रबन्धार्थौचित्य, भाषापदवाक्यौचित्य, प्रकृति-प्रत्ययादि व्याकरणिक इकाईगत औचित्य, लोकाचारगतऔचित्य, तथा मनोवैज्ञानिकभावादिगत औचित्य, सुस्थिर मापदण्ड समझे जा सकते हैं।

अपने इन निष्कर्षों के अनुरूप ही अब हम किरातार्जुनीय महाकाव्य का औचित्यमूलक विमर्श आरम्भ करेंगे।

द्वितीय विमर्श पूर्ण

तृतीय विमर्श

किरातार्जुनीय का प्रबन्धार्थौचित्य

महाकवि भारविकृत 'किरातार्जुनीयम्' एक प्रबन्धात्मक महाकाव्य है। इसका संस्कृत के महाकाव्यों में कथ्य एवं शिल्प दोनों दृष्टियों से महत्वपूर्ण स्थान है। इस महाकाव्य का प्रबन्धगत औचित्य की दृष्टि से विचार करते हुए जैसा कि पूर्व निर्दिष्ट किया जा चुका है– "कवि के अभिमत कथ्य की अविच्छिन्न योजना ही प्रबन्ध है, और इस प्रबन्ध अथवा प्रबन्धगत अर्थ का रसानुरूप उचित गुम्फन ही प्रबन्धौचित्य अथवा प्रबन्धार्थौचित्य है।" यहाँ प्रबन्धार्थौचित्य की मीमांसा करते हुए आचार्य क्षेमेन्द्र के द्वारा प्रस्तुत निदर्शन तथा उस पर उनकी चर्चा हमारे इसी अभिमत की पुष्टि करती है–

उचितार्थविशेषेण प्रबन्धार्थः प्रकाशते।
गुणप्रभावभव्येन विभवेनेव सज्जनः।।

अम्लानप्रतिभाप्रकर्षोत्प्रेक्षितेन सकलप्रबन्धार्थाप्यायिपीयूषवर्षेण समुचितार्थविशेषेण महाकाव्यं चमत्कारितामापद्यते।

औचित्य०, का० १३

प्रस्तुत विमर्श में किरातार्जुनीयम् के सम्पूर्ण कथा–बन्ध को एक प्रबन्ध शरीर मानकर उसके घटक रूप में गुम्फित कथांशों के काव्य कलात्मक औचित्य की समीक्षा की जा रही है। अपनी इस योजना में हम पूरे प्रबन्ध के पृथक् पृथक् सर्गों में वर्णित कथांश को सोपान विशेष के रूप में लेंगे।

संस्कृत के महाकवियों में रसानुरूप सामग्री के संयोजन की विशेष सावधानी देखने को मिलती है। किरातार्जुनीय महाकाव्य के प्रणेता महाकवि भारवि ने तो अपने रसानुरूप सामग्री संयोजन (अर्थसंयोजन) से परवर्ती कवियों को एक दिशा भी दी है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य का प्रबन्ध के औचित्य की दृष्टि से हम समीक्षण करें इससे पूर्व कुछ भ्रान्तियों का निराकरण तथा तथ्यों का स्पष्टीकरण करना यहाँ आवश्यक हो जाता है। इस महाकाव्य की कथावस्तु का मूलस्त्रोत पहले शिवपुराण पश्चात् महाभारत है। डा० उमेश प्रसाद रस्तोगी ने अपने ग्रन्थ **''भारवि काव्य में अर्थान्तरन्यास''** में महाभारत को ही किरातार्जुनीय महाकाव्य का मूलस्त्रोत माना है। स्मरण रहे कि द्रौपदी, भीमसेन तथा युधिष्ठिर को शत्रुविषयक उक्तियों तथा अप्सराओं के आगमन जैसे अपवाद प्रसंगों को छोड़कर शेष कथ्यांशों में ही नहीं अपितु शब्द, अर्थ तथा भाव आदि में भी महाकवि भारवि शिवपुराण से ही प्रभावित है।

जहाँ तक भारवि का महाभारत के इतिवृत्त की अपेक्षा शिवपुराण से अधिक प्रभावित होने का प्रश्न है, वहाँ स्मरणीय है कि भारतीय इतिहास के प्रसिद्ध स्वर्णयुग (गुप्तयुग) में जब पुराणों की प्रतिष्ठा हो चुकी थी, पौराणिक देवता भक्ति के क्षेत्र में अपना महनीय स्थान प्राप्त कर चुके थे, आसेतुहिमालय सम्पूर्ण भारतवर्ष भगवान् शंकर के पौराणिक स्वरूप में महती आस्था बनाए हुए दिखाई दे रहा था। महाकवि भारवि ने शिवपुराण के पौराणिक तथा महाभारत में वर्णित इतिवृत्त को अपने महाकाव्य का आधार चुनकर जिस व्यापक जातीय (राष्ट्रीय) भाव को प्रदर्शित करने का उद्देश्य रखा, वह वास्तव में समयोचित तो था ही, महाकाव्य के लक्षणों के अनुरूप भी था, क्योंकि भामह, दण्डी तथा विश्वनाथ आदि पूर्ववर्ती तथा परवर्ती सभी आचार्यों ने इतिवृत्त के चयन का जो निर्देश किया है वह किरातार्जुनीय में पूर्णतः घटित है –

''इतिहासोद्भवंवृत्तमन्यद्वासज्जनात्रयम्''।

विश्वनाथ, साहि० दर्प० ६.३.१७

इतना ही नहीं शिवपुराण तथा महाभारत की पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथा में महाकवि ने अपने कृति के काव्यरूप को सुरक्षित रखने के लिए अर्थात् इसे रसपोषक व चमत्कारी बनाने के लिए यथास्थान अपेक्षित परिवर्तन भी किये हैं। जैसे– भारवि ने अपने महाकाव्य में जिन कथांशों को निबद्ध किया है, उनमें अधिकांश कथ्यांश (अप्सराओं द्वारा अर्जुन की परीक्षा का वर्णन छोड़कर) यद्यपि शिवपुराण तथा महाभारत से प्राप्त किये गये हैं तथापि महाकवि ने अपने कथानक को अविच्छिन्न, रस सम्पन्न व चमत्कारी बनाने के लिए तथा उसे भावगाम्भीर्य, अर्थगाम्भीर्य, वर्णनवैभव, प्रकृतिचित्रण की मनोहारिता, संवादों की रोचकता, चरित्रचित्रण की सजीवता एवं राजनीतिक व व्यावहारिक मूल्यों की अर्थवत्ता से समृद्ध करने के लिए अनेकत्र कल्पना प्रसूत कथ्यांशों की भी सर्जना की है। महाकवि द्वारा उक्त पौराणिक मूल कथानक में कलात्मक दृष्टि से किये गये परिवर्तन तथा उसकी निजी कथात्मक उद्भावनाएं औचित्य–दृष्टि से कितनी सफल अथवा असफल रही हैं, यही प्रकृत विवेचन का केन्द्रबिन्दु है।

किरातार्जुनीय के मूलस्रोत शिवपुराण में 'किरातावतार' प्रकरण का आरम्भ पाण्डवों के द्वारा दुर्योधन के गुणों तथा बल की परीक्षा लेने के लिये एक भिल्ल (वनेचर) को भेजने से होता है :

पाण्डवा अथ भिल्लञ्च प्रेषयामासुरोजसा।
गुणानां च परीक्षार्थं तस्य दुर्योधनस्य च।।

शि० पु०, ३.३७.१८

जबकि भारवि ने अपने प्रबन्ध की अवतारणा में अपने पाठक के मन में एक विस्मयकारी दृश्य उपस्थित करते हुए वनेचर को कब और किन परिस्थितियों में गुप्तचर बनाकर भेजा गया इत्यादि सन्दर्भ दिये बिना

सहसा पटल पर उतार दिया है–

श्रियः कुरूणामधिपस्य पालनीं प्रजासु वृत्तिं यमयुङ्क्त वेदितुम्।
स वर्णिलिङ्गी विदितः समाययौ युधिष्ठिरं द्वैतवने वनेचरः।।

किराता० १.१

ऐसे प्रयोग से जहाँ एक ओर पाठक की रुचि को कलात्मक सन्तोष मिलता है वहीं दूसरी ओर प्रारम्भ में ही कवि की प्रबन्धौचिती का प्रत्यक्ष परिचय मिलता है, क्योंकि यह प्रबन्धांश आगन्तुक वनेचर के वक्तव्य के साथ प्रबन्ध को स्वाभाविकी गति भी प्रदान करता है।

राजधर्म के व्याख्याता मनीषियों के अनुसार 'राजा को नित्योद्योगी रहकर अपने गुप्तचरों द्वारा शत्रु के तीर्थों अर्थात् शत्रु को जीतने के उपायस्वरूप कर्मों को जानना चाहिये।

यस्तीर्थानि निजे पक्षे परपक्षे विशेषतः।
आप्तैश्चारैर्नृपो वेत्ति न स दुर्गतिमाप्नुयात्।।

पंचतन्त्र, काकोलूकीयम् श्लोक ६६

महाकवि ने सर्वप्रथम वनेचर की उपस्थिति दिखाकर राजधर्मानुमोदित युधिष्ठिर के नित्योद्योगी रहने का जहाँ एक ओर समर्थन किया है, वहीं दूसरी ओर वनेचर के वृत्तकथन से प्रबन्ध के मुख्य अंश द्रौपदी व भीमसेन के वक्तव्यों की भूमिका भी तैयार कर दी है। वस्तुतः **''अनुज्झितार्थ सम्बन्धः प्रबन्धो दुरुदाहरः''** लक्षण की चिन्ता कवि को प्रारम्भ से ही है–

कविनिबद्ध इस अवतारणा में यह भी ध्यातव्य है कि ''यहाँ वनेचर केवल युधिष्ठिर के सम्मुख ही शभुवृत्त निवेदित कर रहा है। जबकि शिवपुराण में सभी पांडवों के सम्मुख वनेचर का शत्रु वृतान्त निवेदित है–

सोऽपि सर्वं च तत्रत्यन् दुर्योधन गुणोदयम्।
समीचीनं च तज्ज्ञात्वा पुनः प्राप प्रभून् प्रति।।

शि० पु०, ३.३७.१९

महाकवि ने केवल राजा के सम्मुख वृत्तान्त निवेदित कराकर प्रबन्ध के अर्थगत औचित्य का निर्वाह किया है। यहाँ स्पष्ट है कि गुप्तचर शत्रुपक्ष के निगूढ़तत्वनयवर्त्म का रहस्य राजा को बता रहा है, जिसके लिये सर्वथा एकान्त अपेक्षित है। क्योंकि ''**षट्कर्णोभिद्यते मन्त्रश्चतुष्कर्णस्थिरो भवेत्**'' नीति के अनुसार अपने को अमात्य मानने वाले वनेचर को सबके समक्ष रहस्योद्घाटन अनुचित ही होता।

शत्रु के अभ्युदय से चिन्तित पाण्डवों की इस गोष्ठी में महाकवि भारवि ने सर्वप्रथम द्रौपदी द्वारा राजा युधिष्ठिर की शान्तिपूर्ण नीति से असहमति का उल्लेख किया है किरातार्जुनीयम् १.२८ से १.४६ पर्यन्त। जिसका कारण स्पष्ट है कि कौरवों की सभा में सबसे अधिक अपमान द्रौपदी का ही हुआ था, इसीलिए शत्रु के अभ्युत्थान को सुनकर सर्वप्रथम उसकी ही प्रतिक्रिया का उल्लेख अपना पर्याप्त औचित्य रखता है। द्रौपदी के इस कथ्यांश से जहाँ तत्कालीन नारी की योग्यता, साहस तथा मानिनी होने का परिचय प्राप्त होता है, वहीं राजा के कर्तृत्व को जगाने के लिए प्रजावर्ग का सहयोगी भाव भी प्रकट होता है।

किसी भी गोष्ठी अथवा सभा की यह प्रणाली होती है कि पूर्व वक्ता के कथन का कोई व्यक्ति अनुमोदन करे। ठीक उसी लौकिकाचार का निर्वाह भारवि ने द्वितीय सर्ग के आरम्भ में भीमसेन के माध्यम से प्रस्तुत किया है–

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विदधीत विस्मयम्।।

किराता०, २.२

द्रौपदी के कथन से सहमति प्रकट करके भीमसेन राजा युधिष्ठिर की उद्योगशून्यता को सर्वथा अनुचित बताता है तथा युधिष्ठिर से पुरुषार्थ करने का निवेदन करता है किरातार्जुनीय २.६ से २.२४ तक। महाकवि ने इस कथ्यांश से भीमसेन की शत्रु के प्रति असहयता तथा युधिष्ठिर के प्रति सहयोग की भावना का स्पष्ट संकेत किया है। उल्लेखनीय है कि भारवि ने द्रौपदी तथा भीमसेन की प्रतिक्रियाओं का उल्लेख करने के उपरान्त सीधे राजा युधिष्ठिर का कथन उद्धृत किया है। शेष तीनों पाण्डव (अर्जुन, नकुल तथा सहदेव) की किसी प्रतिक्रिया का उल्लेख नहीं किया, इस रहस्य को समझने के लिए यह स्मरण रखना आवश्यक है कि सम्पूर्ण महाभारत में द्रौपदी तथा भीमसेन विशुद्ध धर्म की अपेक्षा व्यवहार पक्ष के अधिक अनुयायी थे (देखिए: महा० वनपर्व के २७.३०, ३२, ३३ तथा ३५ वें अध्याय) जबकि अर्जुन, नकुल तथा सहदेव ये तीनों युधिष्ठिर के ही आज्ञापालक थे। भारवि ने अपने इस कवि कौशल से जहाँ पाण्डवों का स्वभाव वर्णित किया है, वहीं अपने प्रबन्ध की गरिमा को सुरक्षित रखा है। सभी पाण्ड़वों की भिन्न भिन्न प्रतिक्रियाओं से जहाँ अंग का अतिविस्तार होता है वहीं पाठक को भावी कथानक के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। इस प्रसंग में यह भी दर्शनीय है कि शिवपुराण में जहाँ वनेचर के द्वारा किये गये वृत्तवर्णन की प्रतिक्रिया में पाण्डवों की केवल चिन्ता चित्रित की गई है –

तदुक्तन्ते निशम्यैवं दुःखम्प्रापुर्मुनीश्वर।
परस्परं समूचुस्ते पाण्डवा अतिदुःखिताः।।

शि० पु०, ३.३७.२०

द्रौपदी व भीमसेन द्वारा किसी पक्ष का समर्थन या खण्डन नहीं किया गया तथा जहाँ एक ओर महाभारत में द्रौपदी व भीमसेन के प्रसंग में अपनेक्षित अत्यन्त विस्तार (महा० वन पर्व के २७वें अध्याय से ३५वें अध्याय तक ४४२ श्लोक) दिया गया है वहीं भारवि के अर्थगौरव से युक्त अपने वीर रस प्रधान महाकाव्य के अनुरूप अंगीरस के पोषण में अंग रूप में द्रौपदी व भीमसेन द्वारा प्रस्तुत किये गये ओजस्वी पक्ष का अपेक्षित संक्षेप में तथा मर्यादित भाषा में समुचित उपस्थापन किया है। इस प्रकार यह कथांश भी भारवि की प्रबन्धौचित्य प्रतिभा का प्रत्यक्ष निदर्शन है।

द्रौपदी व भीमसेन की प्रतिक्रिया के पश्चात् भारवि ने राजा युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया गुम्फित की है। जिससे राजा युधिष्ठिर की वर्तमान के प्रति विवेकदृष्टि, दूरदर्शिता, गम्भीरता तथा मर्यादाप्रियता आदि विशेषताएं तो ध्वनित होती ही हैं सम्पूर्ण कृति की शोभा भी वृद्धि को प्राप्त होती है। भीम की शीघ्रकारिता के ऊपर धर्मराज की विमृश्यकारिता का अंकुश लगाना महाकवि ने इसीलिए आवश्यक समझा क्योंकि वनवास काल में पाण्डव पक्ष की जहाँ एक ओर साधनों की विपन्नता एवं असहायता विद्यमान है वहीं दूसरी ओर सन्धिविच्छेदादि मर्यादाविहीन आचरण करने पर दुर्योधन जैसा ही नैतिक व्यवहार करने के कारण आदर्श कुरुवंशियों व अन्य मित्र राजाओं की ओर से अपने को उचित सहयोग न मिल पाने की आशंका बनी हुई है–

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य ततः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन्हरिदश्वः कमलाकरानिव।।

किराता०, २.४६

अपने शत्रु के प्रति होने वाली प्रतिक्रिया में राजा युधिष्ठिर का स्पष्ट अभिमत है कि उद्योग करना अनुचित नहीं बल्कि बिना सोचे समझे क्रोध

व उद्योग करना अनुचित है। संक्षेप में राजा युधिष्ठिर की प्रतिक्रिया का यही औचित्य है जो प्रबन्ध का आभूषण भी बना हुआ है।

जिस समय राजा युधिष्ठिर द्रौपदी व भीमसेन के ओजस्वी किन्तु अदूरदर्शितापूर्ण तर्कों का विवेकसम्मत शैली में समाधान कर रहे थे ठीक उसी समय अभिलषित मनोरथ सिद्धि के रूप में सर्वथा निस्पृह किन्तु युधिष्ठिर के गुणों से आकृष्ट महर्षि वेदव्यास जी के अवतरण रूप में कथांश का प्रबन्धन कवि के युगीन मूल्यों के अनुरूप न्याय और अधिकार के लिए संघर्षरत धर्म की शक्ति (युधिष्ठिर) के साथ बुद्धिजीवी वर्ग की सहानुभूति का औचित्य प्रकट करता है–

अनुशासतमित्यनाकुलं, नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः।।

किराता०, २.५४

महर्षि वेदव्यास जी का पाण्डवों को शत्रुपक्ष की प्रबलता बताने का औचित्य इस तथ्य में निहित है कि वेदव्यास जी की इच्छा न्यायमार्गस्थित पाण्डवों को अन्याय मार्गारूढ़ कौरवों पर विजयी देखने की थी, परन्तु वे अच्छी तरह समझते थे कि दुर्योधन ने अपनी जड़ें इतनी गहरी जमा ली हैं कि उद्योग किये बिना उस पर विजय पाना कठिन है, इसके लिए तपःसाधना की अनिवार्यता थी। प्रारम्भ से ही कष्टसाधना में पड़े हुए पाण्डव आगे और कष्टतर साधना के लिये प्रस्तुत हो सकें क्योंकि इसके लिये प्रिय बन्धु का वियोग तक अपरिहार्य था, एतदर्थ पाण्डवों के समक्ष शत्रुपक्ष की सामान्यतः अजेय शक्ति का वर्णन (किराता० ३.११ से ३.२१ तक) नितान्त उचित था। वेदव्यास के अवतरण का यह कथांश वास्तव में प्रबन्ध के भावी घटनाक्रम की भूमिका भी प्रदान करता है। चतुर्थ सर्ग से अर्जुन का प्रस्थान तो इसी कथांश पर स्थित है।

त्रिकालदर्शी महर्षि वेदव्यास ने अर्जुन जैसे सुयोग्य पात्र को उद्योग करने के लिए उचित समझा। महाकवि ने अर्जुन की सत्पात्रता को बहुत ही नपे तुले शब्दों में व्यंजना वृत्ति द्वारा स्पष्ट किया है, उन्होंने तपस्या के लिए 'सुदुश्चरां' करिष्यसे यत्रसुदुश्चराणि० किराता० ३:२९ विशेषण दिया है। जिसके द्वारा स्पष्ट है कि यह तपस्या केवल 'दुश्चर' नहीं अपितु सुदुश्चर अर्थात् 'दुश्चरतम्' होगी, तपस्या की प्रकृति को देखते हुए युधिष्ठिर, भीमसेन और नकुल-सहदेव की अपेक्षा अर्जुन का चयन ही उचित था क्योंकि नकुल सहदेव और युधिष्ठिर जहाँ अपेक्षाकृत कोमल प्रकृति के पात्र महाभारत इत्यादि में चित्रित हुए हैं, वहाँ भीमसेन शारीरिक बल अतुलनीय होने पर भी प्रकृति से उद्धत, अस्थिर तथा तपस्या में अनभ्यस्त पाये जाते हैं। निष्कर्ष रूप में शारीरिक बल में अन्यून, नरावतार होने से उत्पत्ति से ही तपोमय, स्थिर प्रकृति, लक्ष्यनिष्ठ तथा राजा युधिष्ठिर के पूर्ण अनुव्रत अर्जुन की ही नियुक्ति उचित थी। साथ ही वह भी द्रष्टव्य है कि वेदव्यास जी अर्जुन को इन्द्रकील पर्वत पर तपस्या करने के लिए भेजना चाहते थे, इसके लिए इन्द्रपुत्र से बढ़कर अन्य कौन पात्र उचित ठहरता? यही कारण है कि कवि ने अर्जुन के लिए 'योग्यतम' विशेषण का प्रयोग किया है :

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपः प्रभावात्विततार सद्यः।
येनास्य तत्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः।।

किराता०, ३.२६

अस्त्रप्राप्ति हेतु यात्रा के प्रसंग में भारवि ने अर्जुन को द्रौपदी के द्वारा कान्तासम्मित उपदेश वर्णित किया है (किराता०, ३.३९ से ३.५४ तक)। इस उपदेश के माध्यम से प्रबन्ध के अंगीरस वीररस का पोषण ही नहीं हो रहा है अपितु इस कथांश से जहाँ द्रौपदी की शत्रु के प्रति असह्यता, अधिक उद्दीपत होती दिखाई देती है वहीं अर्जुन को भावी विपत्तियों की

सूचना तथा उनमें दृढ़ रहकर लक्ष्य प्राप्ति की ओर जागरूक रहने की शिक्षा भी दिखाई देती है। उल्लेखनीय है कि उपर्युक्त कथांश के संयोजन में कवि की दृष्टि अपने अंगी वीररस की पुष्टि में बनी रहती है। ऐसे स्थानों पर भारवि 'अनोननुसन्धानम्' रसदोष से सर्वथा सावधान हैं।

प्रातिष्ठत महाबाहुः प्रग्रहीतशरासनः।
वधाय धार्तराष्ट्राणां निःश्वस्योर्ध्वमुदीक्ष्य च।।

महा०, वनपर्व ३७.२०

जबकि शिवपुराण में द्वैतवन से अर्जुन का इन्द्रकील पर्वत पर अकेला जाना तथा वहीं किसी यक्ष के साथ डाकू राक्षसों को नष्ट करना निरूपित है :

अर्जुनोऽपि स्वयंगच्छन्दुर्गाद्रिपु दृढव्रतः।
यक्षं लब्ध्वा च तेनैव दस्यून्निध्नन्नेकशः।।

शि० पु०, ३.३८.२८

भारवि ने दोनों उक्त वर्णनों में अपना कवि कौशल दिखाने के लिये यक्ष को व्यास जी की आज्ञा से ही अर्जुन के साथ इन्द्रकील पर पहुँचाया है :

करिष्यसे यत्र सुदुश्चराणि प्रसत्तये गोत्रभिदस्तपांसि।
शिलोच्चयं चारुशिलोच्चयं तमेष क्षणान्नेष्यति गुह्यकस्त्वाम्।।

किराता०, ३.२९

महाकाव्य के तृतीय सर्ग में यक्ष की इस पूर्वोपस्थिति से कवि ने अपने नायक के प्रति जहाँ सम्मान भावना प्रकट की है, वहीं भावी प्रकृति वर्णन के समय अपेक्षित संवाद योजना की पृष्ठभूमि भी तैयार कर दी है। स्पष्ट है कि कवि ने प्रबन्धात्मक रचना के अनुरूप जिन प्राकृतिक दृश्यों

तथा बिम्बों का वर्णन अपने महाकाव्य के चतुर्थ सर्ग तथा पंचम सर्ग में किया है वह तभी सम्भव हो सकता था कि जब किसी तरह संवादात्मकता जुटाई जाती। यक्ष सम्बन्धी प्रबन्धांश का संक्षेप में यही उद्देश्य है।

महाकवि भारवि ने शिवपुराण व महाभारत की पौराणिक व ऐतिहासिक कथा में अपनी उर्वरा काव्यप्रतिभा के बल पर चतुर्थ सर्ग से लेकर दशम सर्ग तक महाकाव्योचित मोड़ दिया है, जिससे एक ओर तो महाकाव्य की परम्परा का निर्वाह हो रहा है, दूसरी ओर महाकाव्य के नायक अर्जुन की तपस्योचित योग्यता, चरित्र की उदात्तता, मन की तेजस्विता तथा लक्ष्य के प्रति जागरूकता जैसे लोकोत्तर गुणों का भान हो रहा है।

कथा के इस भाग में अर्जुन का यक्ष के साथ मार्ग के प्राकृतिक दृश्यों को देखते हुए हिमालय पर पहुँचना (किराता० ४.१ से ४.३७ तक), वहाँ हिमालय की सुषमा देखते हुए इन्द्रकील के समीप पहुँचना (किराता० ५.१ से ५.४९ तक), यक्ष का अर्जुन को साधना के लिए उपयोगी स्थान पर छोड़कर लौटना (किराता० ५.५० से ५१), अर्जुन का इन्द्र को प्रसन्न करने के लिए तप करना (किराता० ६.१९ से २८ तक), वनेचरों का इन्द्र को सूचित करना (किराता० ६.२९ से ६.३७ तक) इन्द्र के द्वारा अर्जुन की परीक्षा के लिए अप्सराओं को भेजा जाना (किराता० ६.३९ से ६.४७), उन अप्सराओं का वन, पर्वत, नदी सरोवर तथा अन्य प्राकृतिक सौन्दर्यों का आनन्द लेते हुए अर्जुन के आश्रम पर आकर (किराता० ६.१ से १०.१० तक) अपनी विलास भरी चेष्टाओं से भी अर्जुन को विचलित न हुआ देखकर इन्द्रभवन को निराश होकर लौटना (किराता० १०.१८ से १०.६३ तक) जैसे चमत्कारी कथ्यांश वर्णित हैं जिनमें भारवि की विलक्षण प्रतिभा तथा उर्वरा कल्पना के सहजदर्शन होते हैं। अधिक स्पष्टता के लिए शिवपुराण में इन्द्रसेवकों द्वारा दी गई अर्जुन के तप की सूचना तथा इन्द्र की उपस्थिति वर्णित है :

पुनस्ते च विचार्यैवं कथनीयं विडौजसे।
इत्युक्त्वा तु गतास्ते वै शक्रस्यान्तिकमञ्जसा।।

शि० पु०, ३.३८.३५

जबकि महाभारत में बिना किसी सूचना के इन्द्र की एक तपस्वी के वेश में अर्जुन के आश्रम में उपस्थिति दिखाई गई है :

तच्छ्रुत्वा सर्वतो दृष्टिं चारयामास पाण्डवः।
अथापश्यत् सव्यसाची वृक्षमूले तपस्विनम्।।

महा०, वनपर्व ३७.४३

इन दोनों उपजीव्य ग्रन्थों में अप्सराओं द्वारा अर्जुन की परीक्षा का किसी प्रकार भी उल्लेख नहीं है। महाकाव्योचित समग्र गुणों से समलंकृत प्रबन्धकाव्य के प्रणेता महाकवि भारवि ने उक्त दोनों नीरस प्रसंगों के स्थान पर 'वनेचरों के द्वारा अर्जुन की तपस्या का समाचार मिलते ही इन्द्र द्वारा अप्सराओं को भेजने की उद्भावना' करके अपने प्रबन्धौचित्यप्रकर्ष का सफल प्रदर्शन किया है। इस रसोन्मेषी कथ्यांश से महाकवि ने अपने प्रधान नायक अर्जुन को अपने कामोत्तेजक आलम्बनों के बीच में ही लक्ष्य के प्रति दृढ़ रहने की चारित्रिक उदात्तता में नायकोचित उत्कर्ष का आधान किया है। इस प्रकार वीररसप्रधान महाकाव्य के नायक के चरित्रगत औदात्य की अभिवृत्ति तथा वीररस के अंगीभूत शृंगार रस की उद्दीप्ति कराने में सफल प्रस्तुत अप्सरप्रसंग का प्रबन्धन निश्चित ही कलात्मक सार्थकता सिद्ध करता है, अतएव उसका कलात्मक औचित्य स्वयं सिद्ध है।

यह सब होते हुए भी यदि हम स्वाभाविक मनोज्ञता और कला के आभिरूप्य की दृष्टि से प्रस्तुत महाकाव्य की स्वस्थ मन से समीक्षा करें तो हम कह सकते हैं कि भारवि के महाकाव्य में ऐसे प्रबन्धांश का विनियोजन

कलात्मक प्रवृत्ति के साथ तत्कालीन समाज के अभिजात वर्ग (कुलीन सामन्त) तथा उनसे जुड़े बुद्धिजीवी वर्ग की कलात्मक अभिरुचि के एक स्तर विशेष को भी सूचित करता है। प्रबन्ध के इस अंश की तुलना यदि हम कालिदास द्वारा कुमारसम्भवम् में शिव की तपःसमाधि को भंग करने के लिए विनियोजित कामसेना के कथाप्रसंग से करें तो हमें कलात्मक अभिरुचि के स्तर का अन्तर साफ-साफ दिखाई देगा। कालिदास के प्रबन्ध में कलात्मक जीवन्तता है, न कि कथांश का बलात् आरोप। भारवि के इस अंश में भरपूर कलात्मक जीवन्तता नहीं है। महाकाव्य की कथावस्तु के विधान में ऋतु वर्णनादि अथवा दृश्यविधान आदि को समीक्षकों ने अपरिहार्य रूप में यदि स्वीकारा है तो इसका यह अर्थ नहीं कि कला में यह वर्णन अपनी जीवन शक्ति खोकर उतरे। वस्तुतः अमरावती से अप्सराओं का प्रस्थान, उनके शृंगारिक वर्णन तथा अर्जुन के सम्मुख विलासपूर्ण चेष्टाएं आदि कथांश जिस तरह सात, आठ नौ तथा दसवें सर्गों में भारवि ने वर्णित किये हैं, वह तत्कालीन राजा महाराजाओं तथा सामन्तों की नर्तक नर्तकियों के साथ की सेनाप्रस्थान का प्रतिरूप है। स्पष्टतः कालिदास के युग की कलात्मक अभिरुचि के स्तर से यह स्तर निम्न श्रेणी का प्रतीत होता है। फांसीसी विदुषी इलिया सोनिया ने अपनी पुस्तक "कालिदास एण्ड दी थ्री ग्रेट ईपिक्स" में भी भारवि के वीररस प्रधान महाकाव्य में शृंगार रस पोषक प्राकृतिक दृश्यविधानों तथा अप्सराविहारादि के अतिविस्तार को वीररस की अभिव्यक्ति में बाधक ही माना है सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी के कथनानुसार उपर्युक्त पुस्तक का हिन्दी अनुवाद "कालिदास तथा वृहत्त्रयी के कवि" नाम से तारापोरवाला बुकसेलर्स फोर्ट बम्बई, से प्रकाशित है।

हम समझते हैं कि कलात्मक अभिरूप्य के अभाव में इतना दीर्घ प्रस्थान वर्णन वितृष्णाकर हो गया है। अतः भारवि इस अंश में प्रबन्ध

कौशल की दृष्टि से कुछ हल्के पड़ गए हैं।

तपःसमाधि में स्थित अर्जुन को विचलित करने में असफल अप्सराएँ देवराजइन्द्र के समक्ष सारा वृतान्त प्रस्तुत करती हैं। अपने पुत्र की प्रशंसा सुनकर इन्द्र मुनि का वेश धारण करके अर्जुन के आश्रम में प्रवेश करते हैं :

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः।।

किराता०, ११.१

इसी कथांश के साथ प्रबन्ध का एकादश सर्ग आरम्भ होता है जो कि विषयगाम्भीर्य की दृष्टि से इस महाकाव्य का प्राण है। इस कथांश में इन्द्र और अर्जुन के संवाद द्वारा महाकवि ने नायक के गुणों को प्रस्फुटित किया है और नायक चयन के औचित्य को सहज शब्दों में सिद्ध कर दिया है। वीररसप्रधान महाकाव्य के नायक में अपेक्षित गुणों धैर्य, लक्ष्यनिष्ठा विवेक और उत्साहपूर्णता इत्यादि को व्यक्त करने के लिए कवि ने इस सर्ग का प्रणयन किया है। जो कि इस प्रकार से मध्यवर्ती होता हुआ पूर्व और परभाग को प्राणवान् बना रहा है। इस सर्ग के उत्तरार्द्ध में देवराज इन्द्र का प्रसन्न होकर अपने स्वरूप में प्रकट होना तथा भगवान शंकर की आराधना का उपदेश देना काव्य के भावी घटनाक्रम की कड़ी भी जोड़ता है।

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश।।
प्रीते पिनाकिनि मया सह लोकपालैर्लोकत्रयेऽपि विहिताप्रतिवार्यवीर्यः।
लक्ष्मीं समुत्सुकयितासि भृशं परेषामुच्चार्य वाचमिति तेन तिरोबभूवे।।

किराता०, ११.८०, ८१

यहाँ यह स्मरणीय है कि महाकवि के उपजीव्य ग्रन्थ शिवपुराण में ऐसे किसी आश्वासन का कोई संकेत नहीं है। भारवि ने कथा में स्वाभाविकता लाने के लिए महाभारत से प्रभावित होकर प्रबन्ध को कलात्मकता प्रदान की है। इन्द्र जैसे पिता का कर्त्तव्य भी हो जाता है कि अपने पुत्र अर्जुन को स्वयं भी कुछ अस्त्रशस्त्र देता।

बारहवें सर्ग के आरम्भ में महाकवि ने अर्जुन के बल-पौरुष की परीक्षा के लिए मूक नामक दानव को वराह रूप में उसके आश्रम पर उपस्थित किया है :

वपुषा परमेण भूधराणामथ सम्भाव्य पराक्रमं विभेदे।
मृगमाशु विलोकयाञ्चकार स्थिरदंष्ट्रोग्रमुखं महेन्द्रसूनुः।।

किराता०, १३.१

यह दनुपुत्र मूक यहाँ क्यों आया, इस विषय को कवि ने अर्जुन के अनेक तर्क-वितर्कों के द्वारा संदिग्ध ही छोड़ दिया है :

बहुशः कृतसत्कृतेर्विधातुं, प्रियमिच्छन्नथवा सुयोधनस्य।
क्षुभितं वनगोचराभियोगाद्गणमाशिश्रियदाकुलं तिरश्चाम्।।

वही, १३.१०

जबकि शिवपुराण में वह वराह दुर्योधन द्वारा भेजा गया वर्णित है :-

एतस्मिन्नन्तरे दैत्यो मूकनामाऽऽगतस्तदा।
सौकरं रूपमास्थाय प्रेषितश्च दुरात्मना।।

शिवपुराण, ३.३९.१०

शिवपुराण एक धर्मग्रन्थ है, उसके रचयिता की अपरोक्षानुभूति भी सम्भव है। जबकि मनीषी महाकवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा के बल पर उसके कार्यकारणभाव की स्थापना करता है। सन्देह के अतिरिक्त

दुर्योधन–प्रेषणरूप निश्चय के पक्ष में उसे कोई आधार नहीं दिखाई देता। कार्य–कारणभाव की तर्कवितर्कमयी कल्पना के उपरान्त वराह को अपना परमशत्रु मानकर उसका वध करने को ही श्रेयस्कर समझते हुए पार्थ, वराह को अपने बाण का लक्ष्य बनाता है (किराता० १३.१२) दूसरी ओर किरातसेना के साथ पार्थाश्रम पर आकर वृक्ष की ओट में खड़े किरातवेशधारी भगवान् शंकर भी वराह पर शरप्रहार करते हैं (वही १३.२०) इस प्रकार वराह के वध का यह प्रसंग महाकाव्य के अग्रिम कथानक की महत्वपूर्ण भूमिका प्रस्तुत करता है। जिसमें महाकवि की प्रबन्धौचित्यप्रतिभा के स्पष्ट दर्शन होते हैं।

वराह–वध के उपरान्त महाकवि ने वनेचर के रूप में शिवगण के मुख से किरात वेशधारी अपने स्वामी के अप्रतिम प्रभाव का वर्णन किया है, जिसका पर्यवसान अन्ततः अर्जुन के शौर्यसम्पन्न, अर्थगर्भित उत्तरों के द्वारा महाकाव्य के नायकोचित गुणों के विकास में ही होता है।

महाकवि ने चतुर्दश सर्ग के उत्तरार्द्ध में शिवसेना के साथ अर्जुन के युद्ध का प्रभावी वर्णन किया है। युद्ध के इस रसोन्मेषी प्रसंग में भारवि ने अर्जुन के पराक्रम व किरातसेना के पराभव का जो चमत्कारी चित्रण किया है वह किरात वेशधारी शिव के साथ होने वाले युद्ध की प्रशस्त प्रस्तावना प्रस्तुत करता है। उल्लेखनीय है कि महाकाव्य के अंगीरस वीर रस के पोषणार्थ प्रतिपक्षीय किरात सेना के पार्थाश्रम की ओर आने के अवसर पर अंग रस के रूप में भयानक रस का सांगोपांग चित्रण करके तो महाकवि ने अपनी रससिद्धता ही प्रकट कर दी है।

पन्द्रहवें सर्ग में महाकवि ने किरात और अर्जुन के युद्ध की अवतारणा में जहाँ एक ओर अपने प्रबन्ध काव्य के 'किरातार्जुनीयम्' अभिधान की अन्वर्थता सिद्ध की है वहीं दूसरी ओर अपने नायक के असाधारण शौर्यादिगुणों का चित्रण कर ऋषि–महर्षियों तक को विस्मित कर दिया है

(किराता० १४)। वीर रस प्रधान प्रबन्धकाव्य में इस सर्ग की योजना जहाँ भाव की दृष्टि से कवि की प्रबन्धौचित्य प्रतिभा का परिचय देती है वहीं कलापक्ष की दृष्टि से **'शब्दचित्रंवाच्यचित्रमव्यंगंत्ववरं स्मृतम्'** अधम काव्य के इस लक्षण का विषय बनकर अनौचित्य की कोटि में भी आ जाती है। वीरभावों का चित्रकाव्य के माध्यम से चित्रण न तो लक्षणशास्त्रों के अनुरूप है और न ही अर्थ सौन्दर्य की दृष्टि से पाठकों के ही अनुरूप। आचार्य आनन्दवर्धन ने चित्रकाव्य की निन्दा करते हुए कहा है– "ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यंग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलं वाच्यवाचक वैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं पदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारोह्यसौ (आनन्दवर्धन : ध्वन्या० टीकाकार त्रिपाठी रामसागर : तृतीयउद्योत पृ० १२१९)। अर्थात् चित्रकाव्य में न तो रसभावादि का कोई रहस्य विवक्षित रहा करता है और न ही किसी व्यंगविशेष के प्रकाशन का सामर्थ्य। वह तो केवल शब्द–वैचित्र्य और अर्थ–वैचित्र्य मात्र के आधार पर चित्र की तरह रचा जाया करता है। वह मुख्य काव्य भी नहीं होता अपितु निःसन्देह काव्यरूढ़ि का अनुकरण मात्र होता है। भारवि के इस चित्रमयवर्णन में एक और भी कठिनाई आती है जो अभी तक विद्वानों की चर्चा का विषय रही है। कुछ विद्वान् श्री मल्लिनाथ के अर्थों को स्वीकार न करके अन्य अर्थों की कल्पना करते हैं। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के अनुसार आज से कुछ दिन पूर्व सुप्रसिद्ध समीक्षक आचार्य दामोदरलाल गोस्वामी 'काशी' ने श्रीमल्लिनाथ के कुछ अर्थों को अस्वीकार करके नवीन अर्थों की कल्पना की थी। आधुनिक विद्वानों में वेणीमाधवशास्त्री मुसलगांवकर तथा डा० कपिल देव द्विवेदी प्रभृति मनीषी भारवि के इस चित्रालंकार–समन्वित युद्धवर्णन में भले ही वीर रस की अवतारणा (किराता० द्वितीय सर्ग, सं० वेणीमाधव शास्त्री मुसलगांवकर भूमिका पृष्ठ–२६) तथा कवि की प्रतिभा (डा० कपिल देव द्विवेदी, सं० साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास पृ०–१९७) के दर्शन करते हों, परन्तु इस सत्य से विमुख नहीं हुआ जा सकता

कि यह चित्रमय वर्णन वीररस के पोषण में न तो सहायक है और न प्रबन्ध में गतिशीलता ही उत्पन्न करता है। फलतः इस प्रकार की अलंकारयोजना समीक्षकों तथा काव्यरसिकों को कथमपि स्वीकार नहीं हो सकती।

भगवान् आशुतोष की तुष्टि के फलस्वरूप पाशुपतास्त्र-प्राप्ति के उपरान्त महाकवि ने आगे के कथ्यांश में भी प्रबन्ध की गरिमा के अनुरूप अपने दोनों उपजीव्य ग्रन्थों में अपेक्षित परिवर्तन किया है। शिवपुराण में पाशुपतास्त्र लेने के पश्चात् अर्जुन का द्वैतवन में जाना अंकित है :

अथार्जुनः प्रसन्नात्मा प्राप्यास्त्रं च वरं प्रभो।
जगाम स्वाश्रमे मुख्यं स्मरन्भक्त्या गुरुं शिवम्।।

शिशुपुराण, ३.४२.६०

वहाँ न तो लोकपालों के द्वारा अस्त्र प्रदान की कोई चर्चा है और न शिष्टाचार के अनुरूप, द्वैतवन में लौटकर धर्मराज को प्रणामदि का उल्लेख है तथा महाभारत में पाशुपतास्त्र देकर शिव के अन्तर्हित होने पर इन्द्रादि लोकपालों का अर्जुन को अनेकानेक अस्त्र प्रदान कराना निरूपित है।

जबकि महाकवि भारवि ने भगवान् शंकर की आज्ञा से ही इन्द्रादिलोकपालों द्वारा अर्जुन को अनेकानेक अस्त्र प्रदान कराकर अर्जुन से द्वैतवन में धर्मराज युधिष्ठिर को प्रणाम कराया है –

अथ शशधरमौलेरभ्यनुज्ञामवाप्य त्रिदशपतिपुरोगाः पूर्णकामाय तस्मै।
अवितथफलमाशीर्वादमारोपयन्तो विजयि विविधमस्त्रं लोकपाला वितेरुः।।
व्रज जय रिपुलोकं पादपद्मानतः सन्गदित इति शिवेन श्लाघितो देवसंघैः।
निजगृहमथ गत्वा सादरं पाण्डुपुत्रो धृतगुरुजयलक्ष्मीर्धर्मसूनुं ननाम।।

किराता०, १८.४६, ४८

महाकवि भारवि ने इस घटना के उचित गुम्फन से जहाँ इन्द्र के द्वारा

अर्जुन को एकादशसर्ग में दिये गये अस्त्रप्रदान सम्बन्धी आश्वासन का अक्षरशः पालन कराकर प्रबन्धौचित्य का निर्वाह किया है वहीं अर्जुन का द्वैतवन में लौटकर तुरन्त बड़े भाई को नमन करना निरूपित कर शिष्टाचार की सनातनपरम्परा का भी उचित सम्मान किया है जो अतिशय श्लाघनीय एवं अनुकरणीय है। ऐसे ही स्थलों पर वाग्देवतावतार आचार्य मम्मट की '**काव्यं यशसे व्यवहारविदे**' पंक्ति की सार्थकता सिद्ध होती है। यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि महाभारत में भगवान् शंकर के द्वारा अस्त्रप्राप्ति के अनन्तर अर्जुन द्वैतवन में नहीं लौटते अपितु स्वर्ग की दीर्घयात्रा पर निकल पड़ते हैं, और लगभग १२७ अध्यायों के पश्चात् द्वैतवन में आते हैं, जबकि भारवि ने अपने कवि चातुर्य से अर्जुन को तुरन्त द्वैतवन में लौटाकर और धर्मराज को अभिवादन कराकर नायक की लक्ष्यनिष्ठा को सम्यक् रूप से प्रकट किया है।

इसप्रकार किरातार्जुनीय महाकाव्य की प्रबन्धौचित्य की दृष्टि से समीक्षा करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि भारवि ने प्रस्तुत वीररस के पोषण में सहायक अनेक कथ्यांशों को समुचित रूप से निबद्ध करके अपने नायक को पाशुपतास्त्ररूप फल की प्राप्ति करायी है। कवि को नायक के चरितोत्कर्ष के लिए तथा कथानक को प्रभावशाली बनाने के लिए अपने उपजीव्य गन्थों से यदि परिवर्तन भी करने पड़े हैं तो उनमें भी महाकवि भारवि पूर्ण सफल हुए हैं। यद्यपि प्रस्तुत कथानक के प्रबन्ध में कुछ त्रुटियां भी रह गयी हैं तथापि महाकवि ने अपने काव्यकौशल से उन्हें नगण्यप्राय बना दिया है, जैसा कि महाकवि कालिदास ने लिखा था– ''**एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः।**'' समग्ररूप से विचार करने पर यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि आत्पत्र भारवि का यह प्रबन्ध प्रशस्तगुणों का आगार है, साहित्य सौन्दर्य का अपरिमित भण्डार है तथा समर्थ महाकवि के शब्दार्थ सामर्थ्य दुर्ग का प्रशस्त प्राकार है।

तृतीय विमर्श पूर्ण

चतुर्थ विमर्श

भाषागत पदवाक्यौचित्य

पूर्व विमर्श में हम महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य की प्रबन्धार्थौचित्य योजना के विविध औचित्य रूपों की समीक्षा कर चुके हैं। हमारे विवेचन से यह स्पष्ट हो गया है कि प्रबन्ध योजना का सीधा अर्थ रचनाकार को अभिप्रेत उसके विविध कथ्यांशों को एक सुघटित प्रबन्धात्मक कथानक के शरीर में रूपायित करना होता है।

भारवि के पदवाक्यौचित्य की समीक्षा करते हुए हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि कवि के भाषा–शिल्प पर उसके कलागत अर्थतत्व की सप्राणता और निष्प्राणता का भी गहरा प्रभाव पड़ता है। कवि के भाव बोध की सप्राणता और निष्प्राणता उसके समसामयिक समाज के जीवन उत्स से सरक कर आती है।

यदि कवि का समसामयिक सामाजिक जीवन स्थिरता, गतिरोध तथा मन्दन का शिकार है उसमें दिन दिन नया कुछ हो ही नहीं रहा है तो स्वभावतः कलात्मक भावबोध भी निष्प्राणता और वासीपन का शिकार होता है। अपने कथन की पुष्टि में हम आदिकवि वाल्मीकि, महाकवि कालिदास, तथा नाटककार भवभूति की कला कृतियों को तुलना करके देख सकते हैं।

महाकवि भारवि की कला में भारतीय समाज के पूर्ण विकसित सामन्तवादी ढांचे का गतिरोध लक्षित होता है। कवि की कला में विशेष अभिनवता, कमनीयता, उदात्तता और संस्पर्शधर्मिता उभरकर आने का ऐसी स्थिति में प्रश्न ही नहीं होता। विशेषतः तब जबकि कवि सामन्त या राजाओं के पोषित हों, नगर के संकीर्णजीवन में जी रहे हों। प्रकृति के

उन्मुक्त आंगन में जी पाने से वंचित रहे हों तो उन्हें वह भावसुकुमारता और कलात्मक कमनीयता नहीं मिल पाती, जो प्रकृति के अनन्त हारों में अव्यक्त गूंजती है और जिसे हम कालिदास जैसे महाकवियों की कला में भरपूरता से अनुभव करते हैं।

भाषा शिल्प निश्चित ही जीवन की संकीर्णता की परिधियों में संकीर्ण और व्यापकता में व्यापक होता है। भारवि का भाषाशिल्प बहुत ही संकीर्ण परिधि का है, वह मुख्यतः राजसी जीवन और राजनीतिक परिधि तक है। अतएव कलात्मक भाषा के प्रयोग का अधिक वैभव नहीं है। उनकी काव्यभाषा में हमें प्रायः अर्थशास्त्रीय नीतिशास्त्रीय तथा कामशास्त्रीय पारिभाषिक पदों का बाहुल्येन प्रयोग उपलब्ध हो सकता है परन्तु कलात्मक सौन्दर्य के अभिव्यंजक शब्दों की न्यूनता ही है। दोषकृतिकार का नहीं जीवन की संकीर्ण परिधियों का है।

यह सब होते हुए हम किसी कृतिकार के ऊपर न तो अपनी मनमानी आशाएं टिका सकते हैं और न उसकी कलागत न्यूनताओं के लिए कोई आक्रोश व्यक्त करने का ही अधिकार रखते हैं, अपितु एक सामाजिक के नाते उसकी कलाकृति के भागीदार होने से हम केवल उसके कलात्मक प्रयोगों की सफलताओं–असफलताओं की समीक्षा ही कर सकते हैं।

अपने अध्ययन को अधिक सुव्यवस्थित रखने के लिए हमारा प्रयत्न रहेगा कि भारवि के इस महाकाव्य की प्रबन्ध योजना के अन्दर हम कथ्य की एकरूपता के आधार पर कुछ ऐसे सोपान चुनकर चलें, ताकि भाव या कथ्य के अनुरूप पद प्रयोग और काव्य–रचना प्रकारों का सही मूल्यांकन हो सके। पदौचित्य तथा वाक्यौचित्य के क्रमशः कतिपय निदर्शन द्रष्टव्य हैं :

पदौचित्य :

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्वभूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्वं नयवर्त्म विद्विषाम्।।

किराता०, १.६

पदप्रयोग के औचित्य की दृष्टि से इस श्लोक में दो पद मुख्यतः विचारणीय हैं जन्तवः तथा विद्विषाम्। 'जन्तवः' पद अपनी व्युत्पत्तिमूलक अर्थधारणा से संस्कार तथा शिक्षाचातुरी से सर्वथा शून्य जीवसाधारण का बोधक होता है। भारवि ने दुर्बोध राजवृत्त तथा एक वनेचर पात्र के संस्कारहीन चातुरी रहित व्यक्तित्व के वैषम्य को उभारते हुए गुप्तचर की अपने नियोक्ता स्वामी के प्रति अतिशय विनम्रता का भाव प्रदर्शित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है।

विपक्षी शासक के किसी भी प्रकार के पदगत महत्व को अथवा व्यक्तिगत महत्व को अभिव्यक्ति देने वाले पद का प्रयोग दूर रखकर गुप्तचर किरात से 'विद्विषाम्' पद का प्रयोग कराना अतिरिक्त कलात्मक औचित्य रखता है। इस पद का प्रयोग एक ओर तो विपक्ष के प्रति द्वेष्यभाव को उत्तेजित करता है दूसरी ओर बहुवचनान्तना से शत्रु की शक्ति के विविध ठिकानों की भी ध्वनि निकालता है।

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्।।

किराता०, १.२२

इस श्लोक के 'हिरण्यरेतस्' पद के साथ व्युत्पत्तिमूलक अर्थधारणा चाक्षुष् बिम्ब उभारने की एक विशेष योग्यता रखती है। अग्नि के लिए इस पद का प्रयोग करने से "हिरण्यवर्ण" जैसे रेतस् ('तेज' या 'ज्वाला') वाले उद्दीप्त अग्नि का बिम्ब पाठक के मानस पर उभरता है। हम समझते हैं कि

इसप्रकार के मूर्त बिम्ब की सजीवता 'हव्येन' के साथ और भी बढ़ जाती है।

यज्ञाग्नि का यह बिम्ब विपक्षी शासक की निश्चिन्तता तथा समृद्धि का भी अभिव्यञ्जक हो जाता है। युवराज सामान्यतः राजतन्त्र में शासक पिता द्वारा अपने जीवनकाल में नियुक्त ज्येष्ठपुत्र आदि समझा जाता है, परन्तु यहाँ तो नवयौवनोद्धत भाई को युवराज बनाया गया है। अतः गुप्तचर के इस संवाद में 'यौवराज्य' पद नवयौवनोद्धतता का पुरस्कार सा लगता है और एक प्रकार से विपक्ष की उद्धत राजनीति को सूचित करता है। अतः प्रस्तुत श्लोक में इसका प्रयोग निःसन्देह उचित है।

पुराऽधिरूढ़ः शयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः।।

किराता०, १.३८

प्रस्तुत श्लोक से राजसत्तारूढ़ तथा राजसत्ताच्युत दो विरोधी जीवन स्थितियों का वैषम्य प्रदर्शित करके शत्रु के प्रति युधिष्ठिर के प्रतिशोधभाव का उद्दीपन करना द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है। अतीत की 'महाधनशय्या' के विपरीत वर्तमान की 'स्थली' को प्रस्तुत करके जीवन वैषम्य का अनुभवबोध उद्दीप्त किया गया है। इस काव्यार्थ को सर्वांश में अभिव्यक्ति देने में 'स्थली' पद एक उचित प्रयोग है। कुशकण्टकाकीर्ण वनभूमि स्थली कहलाती है (अमरकोश २.१.५)। उसमें शयन की स्थिति आ पड़ना एक दुःसह वेदना है जो प्रतिकार करना माँगती है।

इस पदगत औचित्य को मल्लिनाथ ने भी ध्वनिधर्म के रूप में लिया है– ''**एतेन दुःसहस्पर्शत्वमुक्तम्**'' (किराता० १.३८ मल्लि०)।

विहाय शान्तिं नृपधाम तत्पुनः प्रसीद सन्धेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।

किराता०, १.४२

शत्रु के अभ्युदय से खिन्न द्रौपदी राजा युधिष्ठिर के सम्मुख राजधर्म तथा मुनिधर्म दो भिन्न नीतिमार्गों का अन्तर स्पष्ट करके उन्हें शत्रुवध के लिये उत्तेजित कर रही है।

महाकवि भारवि ने उपर्युक्त अभिधेय को सशक्त बनाने के उद्देश्य से भाषा में प्रयुक्त राजा के अनेक पर्यायों में से 'भूभृत्' पद का प्रयोग करके युधिष्ठिर की सुप्तचेतना को जागृत किया है। वस्तुतः जिन्हें भूमि का वंशानुगत भरणपोषण कर्तृत्व अर्थात् स्वामित्व प्राप्त है, उन्हें तो मुनिजनोचित शमनीति का त्याग करके राजजनोचित तेजस्विता अपनानी ही होती है।

अर्थान्तरन्यास शैली से मुनिवृत्ति तथा राजवृत्ति का मूलतः विरोध अभिव्यक्त करके मुनि तथा 'भूभृत्' दोनों का प्रयोग युधिष्ठिर की राज्यभूमि के स्वामित्व से वंचित हो मुनियों जैसी भौतिक स्वत्वविहीन परिस्थितियों में आ पड़ने की विषमता को काव्यानुरूप उत्कर्ष देता है। अतः कथ्योचितप्रयोग है। तुम जन्मजात 'भूभृत्' हो, भले ही इस क्षण सत्व से वंचित कर दिये गये हो अतः विस्मृत सी बनी मूल तेजस्विता से पुनः जुड़ो और शत्रुओं को नष्ट करो। इस काव्यार्थ को अभिव्यक्त करने में 'भूभृत्' पद का प्रयोग पर्याप्त औचित्य रखता है।

यदवोचत वीक्ष्य मानिनी परितः स्नेहमयेन चक्षुषा।
अपि वागधिपस्य दुर्वचं वचनं तद्विधीत विस्मयम्।।

किराता०, २.२

मानिनी द्रौपदी ने सब ओर स्नेह से भरे नयन से निहारकर जो कुछ कहा है वह दुर्वच कथन वाणी के स्वामी बृहस्पति को भी विस्मय में डाल सकता है। यहाँ द्रौपदी द्वारा युधिष्ठिर में राजोचित शौर्य एवं प्रतिशोध जगाने

हेतु कही गई ओजोमयी उक्तियों का भीमसेन ने भरपूर समर्थन किया है।

इस श्लोक में 'मानिनी' तथा 'वागधिप' इन दो पदों का प्रयोग कथ्यानुकूल औचित्य रखता है। 'मानिनी' पद का प्रयोग यहाँ दो प्रकार से अपनी औचित्य भूमिका निभाता है। प्रथम तो स्नेहमय चक्षु से अवलोकन अर्थ में प्रतीत होने वाले नारीगत सुकुमारत्व के अतिरिक्त शृंगार संस्पर्श को नियन्त्रित करता है। द्वितीय, द्रौपदी के कथनों में अभिव्यक्त उसके चरित्रगत वैशिष्ट्य को सघनता प्रदान करता है। हमारी दृष्टि से द्रौपदी के लिए 'मानिनी' का प्रयोग आकस्मिक न होकर भारवि की रचना में उदित व्यक्तित्व के मौलिक गुण से अर्जित है अर्थात् कवि ने अपने नारीपात्र के कथनों में जो उसके चारित्रिक गुण प्रदर्शित किये हैं उन्हें अकेले 'मानिनी' पद से मूर्तता प्राप्त हो जाती है। साथ ही 'मानिनी' पद का औचित्य इस तथ्य में भी निहित है कि यह 'मानिनी' पद उस पात्र के लिए प्रयुक्त है जिसका जीवनमूल्य रचनाकार ने उसके इस कथन में व्यक्त किया है : **'परैरपर्यासितवीर्य सम्पदां पराभवोऽप्युत्सव एव मानिनाम्'** (किराता० १.४१)। साथ ही इस पद प्रयोग का काव्यौचित्य इस तथ्य में भी निहित है कि यह वक्ता भीम के अभिमत की भूमिका ध्वनित कर देता है, द्रौपदी की नीति के साथ उसकी पूर्ण सहमति का संकेत कर देता है। यही नहीं राजा युधिष्ठिर को यह भी बोधित कर देता है कि स्वाभिमान ही जिसका स्वत्व है वह व्यक्ति तो यही मत रखेगा। संक्षेप में यही मानिनी पद का औचित्य है।

द्विषता विहितं त्वयाऽथवा यदि लब्धा पुनरात्मनः पदम्।
जननाथ! तवानुजन्मनां, कृतमाविष्कृतपौरुषैर्भुजैः।।

किराता०, २.१७

इस पद्य में पौरुष का केन्द्र पुरुष अर्थात् अनुजन्मा भाइयों से हटाकर 'भुजैः' पद में रखना भी विशिष्ट औचित्य रखता है। कारण स्वतः स्पष्ट है

कि शत्रु से युद्ध के लिए तत्परता का आग्रह किया जा रहा है। युद्ध कर्म का सम्पूर्ण कौशल 'भुजाओं' में केन्द्रित होता है। दो प्रकार के कथन प्रतिरूपों से यह अन्तर स्वतः स्पष्ट हो जाता है 'आविष्कृत पौरुषैः तवानुजैः कृतम्, आविष्कृत पौरुषैः तवानुजन्मना भुजैः कृतम्। जननाथ! तवानुजन्मभिः कृतमाविष्कृत पौरुषैर्नुकिम्'। फलतः 'भुजैः' पद का प्रयोग सर्वथा सटीक है।

उदीरितां तामिति याज्ञसेन्या नवीकृतोद्ग्राहितविप्रकाराम्।
आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे काष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः।।

किराता०, ३.५५

यहाँ सूर्य के किरणजाल के दीप्त चाक्षुष् बिम्ब को उभारने वाले 'तिग्मरश्मि' पद का प्रयोग किया गया है। उपमान का यह सजीव बिम्ब उपमेयगत भावदीप्ति की रेखाओं का सम्मूर्तन कर देता है। अतः तिग्मरश्मि का अत्यन्त उचित पद प्रयोग समझा जाना चाहिये।

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्।।

किराता., ४.२३

इन्द्रधनुष के साथ सुशोभित होने वाले वर्षाकालिक मेघों की अनुपस्थिति में भी शरद्ऋतु के स्वाभाविक सौंदर्य का वर्णन करना महाकवि का मुख्य काव्यार्थ है।

उक्त काव्यार्थ को भरपूर मात्रा में अभिव्यक्ति देने के लिए महाकवि ने वर्षाकालिक मेघों के लिए "पयोद" पद का प्रयोग किया है। शरद् ऋतु के आरम्भ के प्राकृतिक दृश्यों की मनोहारी चित्रमाला के अन्तर्गत महाकवि द्वारा रूपायित इन्द्रधनुष का यह अत्यन्त रमणीय चित्र है। शरद् के निरभ्र

आकाश में उगे इन्द्रधनुष का एक अपना ही अनाहार्य रूपवैभव है। आकाश की निरभ्रता का बिम्ब उभारने के लिए कवि ने "न पयोदपङ्क्तयः" प्रयोग किया है। यहाँ पयोद पद काव्यार्थ की दृष्टि से अत्यन्त उचित है, क्योंकि यह अपने व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ से सघनमेघपंक्ति से रहित शरद् के सहज आकाश का चित्र बना देने में पूर्ण समर्थ है। शरद् ऋतु के निर्मल आकाश में जलहीन बादल सम्भव हो सकते हैं परन्तु जल देने की साम्थ्र्य रखने वाले अर्थात् वाष्प की सघनता वाले पयोद कदापि सम्भव नहीं– यह अनुभव सिद्ध सत्य है।

विहारभूमेरभिघोषमुत्सुकाः शरीरजेभ्यश्च्युतयूथपङ्क्त्यः।
असक्तमूधांसि पयःक्षरन्त्यमूरुपायनानीव नयन्ति धेनवः।।

किराता०, ४.३१

इस श्लोक में पयोधरों से युक्त गौओं का अपने वत्सों की ओर जाना वर्णित है। पदप्रयोग के औचित्य की दृष्टि से यहाँ "शरीरजेभ्यः" पद ध्यातव्य है। रचनाकार ने पाठक के मन में गौओं का वात्सल्यभाव प्रदर्शित करने के लिए गौवत्सों को 'शरीरजेभ्यः' पद से अभिहित किया है। यहाँ गौओं की अपने शरीर से उत्पन्न होने के कारण वत्सों के प्रति आत्मीयता और उपहार–पात्रता ध्वनित हो रही है। परिणामस्वरूप यह 'शरीरजेभ्यः' पद निःसन्देह औचित्य मण्डित है।

कुररीगणः कृतरवस्तरवः कुसुमानताः सकमलं कमलम्।
इह सिन्धवश्च वरणावरणाः करिणां मुदे सनलदानलदाः।।

किराता०, ५.२५

भाषा के दक्ष प्रयोक्ता महाकवि भारवि द्वारा हिमाद्रि के उत्संग में रमणीय प्राकृतिक उपादानों के सौन्दर्य वर्णन में भाषायी श्लेषों से बोझिल प्रायः सभी पदों का प्रयोग यहाँ अनुचित प्रतीत हो रहा है।

प्रणिधाय तत्र विधिनाथ धियं दधतः पुरातनमुनेर्मुनिताम्।
श्रममादधावसुकरं न तपः किमिवावसादकरमात्मवताम्।।

किराता०, ६.१९

विधिपूर्वक चित्तवृत्तियों का नियमन करके मुनिरूप धारण करने वाले अर्जुन को दुष्कर तप भी कोई कष्ट न पहुँचा सका– इस काव्यार्थ को सर्वांश में अभिव्यक्ति देने के लिए भारवि ने अर्जुन के लिए 'पुरातनमुनि' पद का उचित प्रयोग किया है। जो उसकी जन्म जन्मान्तर की तपः करणप्रवृत्ति तथा आत्मवत्ता का दृश्य विधान करने में सर्वथा सक्षम है। प्रसिद्ध है कि अर्जुन ने अपने पूर्वजन्म में नर रूप में बदरिकाश्रम में उत्कट तपस्या की थी और भयंकर से भयंकर क्लेश भी उन्हें श्रान्त नहीं कर पाये थे।

नरस्त्वं पूर्वदेहे वै नारायणसहायवान्।
बदर्यां तप्तवानुग्रं तपो वर्षायुतान् बहून्।।

महा०, वनपर्व ४०.१

विगणय्य कारणमनेकगुणं निजयाथवा कथितमल्पतया।
असदप्यदः सहितुमर्हसि नः क्व वनेचराः क्व निपुणा यतयः।।

किराता०, ६.३७

उपर्युक्त श्लोक में 'यतयः' पद विचारणीय प्रयोग है। जिन वनेचरों ने तपस्वी अर्जुन की उत्कट तपस्या का समाचार अपने स्वामी देवराज इन्द्र को दिया है, उनका एक उद्देश्य इन्द्र के सामने अर्जुन की जितेन्द्रियता को भी उद्घाटित करना है इसीलिए उन्होंने इन्द्रियों को वश में करके तपस्या करने वाले अर्जुन के लिए 'यति' पद का प्रयोग किया है। फलतः यहाँ 'यति' पद अर्जुन के तापसरूप को उभारने में एक सफल प्रयोग है।

सललितचलितत्रिकाभिरामा शिरसिजसंयमनाकुलैकपाणिः।
सुरपतितनयेऽपरा निरासे मनसिजजैत्रशरं विलोचनार्धम्।।

किराता०, १०.५२

सुरपति इन्द्र की भोग्या कामिनी अप्सरा के कामबाण का कोई प्रभाव अर्जुन पर नहीं हुआ– इस दूरगामी काव्यार्थ को पुष्ट करने के लिए महाकवि भारवि ने यहाँ अर्जुन के लिए 'सुरपतितनय' पद का बहुत सटीक प्रयोग किया है, और अपना यह अभिप्राय प्रकट कर दिया है कि पिता की भोग्या पुत्र के लिए मातृतुल्या होती है। उसकी कामचेष्टाओं का कोई प्रभाव सच्चे पुत्र पर नहीं हो सकता। उल्लेखनीय है कि इससे पूर्व श्लोक के 'स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे' चरण में तथा अग्रिम श्लोक के 'तदभिमुखमनङ्गचापयष्टिः' चरण में अर्जुन के लिए 'तद्' सर्वनाम का ही प्रयोग किया है। मध्य के श्लोक में 'सुरपतितनय' पद का प्रयोग निश्चय ही चरित्रनायक की उदात्तता तथा अप्सराओं की निकृष्टता का द्योतक है। फलतः यहाँ 'सुरपतितनय' पद पूर्ण साभिप्राय है।

अथामर्षान्निसर्गाच्च जितेन्द्रियतया तया।
आजगामाश्रमं जिष्णोः प्रतीतः पाकशासनः।।

किराता०, ११.१

अपने पुत्र अर्जुन की जितेन्द्रियता से प्रसन्न हुए इन्द्र के लिये यहाँ 'पाकशासन' पद का प्रयोग किया गया है। अर्जुन का लक्ष्य शत्रुओं को जीतकर उन पर शासन करना है। इसीलिये इन्द्र का भी प्रसन्न होना स्वाभाविक था क्योंकि इन्द्र स्वयं पाक नामक राक्षस के शासक हैं, इसीलिए यह पद एक ओर तो इन्द्र के अलौकिक पौरुष का परिचायक है और दूसरी ओर इन्द्र की सरलता का भी द्योतक है। इसी भाव की व्यंजना में सक्षम यह 'पाकशासन' पद सर्वथा उचित है।

तेनानुजसहायेन द्रौपद्या च मया विना।
भृशमायामियामासु यामिनीष्वभितप्यते।।

किराता०, ११.४८

पाण्डवों व द्रौपदी के लिए अर्जुन के वियोगकाल की अभितापहेतुता को व्यक्त करने के लिए महाकवि ने यहाँ 'यामिनी' पद का समुचित प्रयोग किया है।

सुखाभिव्यक्ति के लिए काल को दिनों के रूप में और दुःखाभिव्यक्ति के लिए काल को रात्रि के रूप में प्रयुक्त करने की कविपरम्परा रही है। इस पर भी रात्रि के लिए 'यामिनी' पद का प्रयोग कवि की सूक्ष्मेक्षिका दृष्टि का परिचय देता है क्योंकि 'यामिनी' पद अभिताप की दुर्भरता तथा दीर्घता को अभिव्यक्ति देने में भरपूर योगदान कर रहा है।

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम्।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया।।

किराता०, ११.७५

प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन युधिष्ठिर के लिए 'भर्तुः' पद का प्रयोग करके उनकी आज्ञा के उल्लंघन को अपने जीवन का ही नहीं, अपने वंश का कलंक मान रहे हैं। अनुजीविजनों का भरणपोषण करने वाला ही तो 'भर्ता' कहा जाता है। इस सद्गुण से सम्पन्न भाई के आदेश का पालन अर्जुन जैसे अनुज के लिए न केवल नैतिकता की दृष्टि से आवश्यक कर्त्तव्य है अपितु "युधिष्ठिर, शत्रु प्रतिकार के लिए अर्जुन का ही एक मात्र स्मरण करते हैं" पूर्व श्लोक में वर्णित इस काव्यार्थ की पुष्टि के लिए यहाँ 'भर्तुः' पद का प्रयोग अनिवार्य है।

इस प्रकार 'भर्तुः' पद के समुचित प्रयोग से कवि ने महाकाव्यनायक अर्जुन के चरित्र को नैतिक उत्कर्ष प्रदान किया है।

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि।
आराध्य वा सहस्त्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे।।

किराता०, ११.७९

अर्जुन के शत्रुकृत अपमान के चुभने की भावना को कण्टक पद की अपेक्षा तीव्र अभिव्यक्ति देने वाले 'शल्य' पद का प्रयोग करके भारवि ने जहाँ अर्जुन के लिए अपयश की असहयता व तीक्ष्णता का परिचय दिया है वहीं उसके उद्धार को इन्द्राराधन का लक्ष्य बताकर उसके दृढ़ संकल्प की भी पुष्टि की है। इस प्रकार 'शल्य' पद का लक्ष्योपयोगी उचित प्रयोग प्रस्तुतार्थ के सर्वथा अनुरूप है।

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः।।

किराता०, १४.२५

सेनापति किरात के उद्धत वचनों में किरातपति शिव के अवास्तविक आक्षेपों को वर्णाश्रमरक्षण की मर्यादा को मानने वाला अर्जुन, जैसे तैसे सहन करके जातिहीन मृगयु के आक्षेप सुनकर, अपनी उग्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहता है कि 'दृष्टिविष' सर्प से मणिग्रहण करने का साहस करने वाले की जो दुर्गति होती है वही दुर्गति बाण लेने का दुःसाहस करने वाले तुम्हारे स्वामी की होगी।

यहाँ महाकवि भारवि ने मणिधरसर्प के लिए 'दृष्टिविष' पद का उचित प्रयोग करके यह भाव व्यक्त किया है कि जिस प्रकार 'दृष्टिविष' को जिघृक्षु विनाश के लिए किसी प्रयास विशेष की आवश्यकता नहीं है, ठीक इसी प्रकार केवल मृगों का हनन करने वाले किरातपति को मारने में मुझे कोई प्रयास विशेष नहीं करना पड़ेगा।

अतएव प्रस्तुत 'दृष्टिविष' पद अर्जुन के असाधारण प्रभाव पराक्रम को व्यक्त करने के कारण सर्वथा समीचीन है।

अयं वः क्लैब्यमापन्नान्दृष्टपृष्ठानरातिना।
इच्छतीशश्च्युताचारान्दारानिव निगोपितुम्।।

किराता०, १५.१९

व्युत्पत्तिमूलक अर्थधारण के प्रकाण्ड पण्डित भारवि ने प्रस्तुत श्लोक में कुलीन आचारों को तोड़कर भ्रष्ट स्त्री के लिए 'दारा' पद का उचित प्रयोग किया है। **'दारयन्ति कुलाचारान् इति दाराः'** निश्चय ही, इस व्युत्पत्ति से लभ्य अर्थ को स्त्रीवाचक किसी अन्य शब्द से व्यक्त नहीं किया जा सकता था।

प्रहीयते कार्यवशागतेषु स्थानेषु विष्टब्धतया न देहः।
स्थितप्रयातेषु ससौष्ठवश्च लक्ष्येषु पातः सदृशः शराणाम्।।

किराता०, १६.२२

भगवान् शंकर की युद्ध में अविचलता, विष्टम्भता एवं महाप्राणता को व्यक्त करने के लिए शरीर के लिए 'देहः' पद का सार्थक प्रयोग कवि की विशिष्ट पदचयन प्रवीणता का परिचायक है। 'देहः' शब्द के महाप्राण हकार तथा विसर्गों ने ध्वनि के आधार पर भी शिव के भारी–भरकम शरीर की महाप्राणता का बिम्ब स्पष्ट उभार में ला दिया है।

प्रचलिते चलितं स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता।।

किराता०, १८.१०

वृषध्वज और कपिध्वज के भयंकर युद्ध की स्थिति में अपने विनाश के लिए आशंकित हिमालय को 'भूभृता' शब्द के द्वारा अभिहित करके

महाकवि ने न केवल भू के थर्रा उठने की बात कही है अपितु 'भू' के भरण (वहन) करने वाले 'भूभृत' (हिमाचल) के भी काँप उठने का रोमांचक मूर्त चित्रण प्रस्तुत श्लोक में किया है। वीररस के अनुरूप ओजस्विनी पदावली में 'भूभृत' का मानवीकरण करते हुए कवि ने मानवसुलभ भयाकुलता का सजीव बिम्ब उभार दिया है।

वाक्यौचित्य :

निसर्गदुर्बोधमबोधविक्लवाः क्व भूपतीनां चरितं क्व जन्तवः।
तवानुभावोऽयमवेदि यन्मया निगूढतत्वं नयवर्त्म विद्विषाम्।।

वही, १.६

गुप्तचर वनेचर का अपने सम्राट् के प्रति सेवकोचित अतिशय विनम्रता प्रकट करना प्रस्तुत श्लोक का मुख्य काव्यार्थ है।

रचनाकार ने अपनी वाक्यरचना में एक ओर भूपतियों के चरित के साथ 'निसर्गदुबोध' तथा दूसरी ओर वन्य-जन्तु के साथ 'अबोधविक्लवाः' जैसे विशेषण पदों का सृजन किया है। अबोध तथा दुर्बोध की दूरी के योजकत्व के रूप में सम्राट् के कृपामय अनुभाव की योजना ने प्रस्तुत वाक्य की कथ्य सम्प्रेषण की दिशा में सर्वांग औचिती सिद्ध कर दी है। महाकवि ने यहाँ अप्रश्न के अवसर पर भी प्रश्नशैली की वाक्यरचना के चमत्कारी प्रयोग से काव्य की कलात्मक सम्प्रेषणीयता को भरपूर उत्कर्ष प्रदान किया है। साथ ही श्लोक के प्रथम दो चरणों में की गई वाक्यरचना से होने वाले सामान्य अर्थ को विशेष वाक्यार्थ के पोषण में पर्यवसित कर देना विशेष चमत्कार उत्पन्न कर रहा है। यहाँ शत्रुपक्ष के नय-रहस्य को जानने का दुर्वह दायित्व तथा वन्यपात्र की सीमित बौद्धिक क्षमताएं भली भाँति अभिव्यक्त हो रही हैं। विषमता के सूचक पदों से युक्त यह वाक्यरचना काव्योचित चमत्कार करने में अत्यन्त समर्थ है।

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः।।

किराता०, १.३४

महापराक्रमी भीमसेन के व्यक्तित्व के अनुरूप भूतकालिक तथा वर्तमानकालिक जीवनस्थितियों का वैषम्य दिखाकर युधिष्ठिर से उद्योग करने का आग्रह करना मानिनी द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है।

महाकवि भारवि द्वारा एक ओर भीमसेन के सत्तारुढ़ अवस्था के अनुरूप 'लोहित चन्दनोचितः, महारथः' जैसे पदों के संयोजन से शौर्य एवं वैभव का प्रदर्शन और दूसरी ओर साधारणदशा के अनुरूप 'रेणुरूषितः–अन्तर्गिरि–पदातिः परिभ्रमन्अयं वृकोदरः'' जैसे पदों के कलात्मक समूहन से धूलभरे जंगली जीवन का प्रदर्शन करने वाली यह वाक्यरचना उपर्युक्त काव्यार्थ को अत्यधिक संवेद्य बनाने में सफल है। साथ ही वाक्यरचना को 'सत्यधनस्य मानसं च दुनोति कच्चित्? इस प्रश्नात्मक मुद्रा में ढाल देने से काव्य के अभिप्रेतार्थ में और अधिक सजीवता आ गई है।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।।

किराता०, १.३६

प्रस्तुत श्लोक में सुकुमार छोटे भाई नकुल और सहदेव के वनवासी जीवन की दयनीयता की ओर इंगित कर राजा युधिष्ठिर को उत्तेजित करना द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है।

महाकवि भारवि ने इस काव्यार्थ की संवेद्य अभिव्यक्ति कराने के लिए '**वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विश्वगिवागजौ गजौ**' जैसे भावोत्तेजक विशेषण पदों के समूहन से प्रभावी वाक्य रचना प्रस्तुत की है। अपने स्नेहभाजन जुड़वें भाइयों की दुर्दशा देखकर भी तुम्हारा धैर्य

और संयम बना रहा तो फिर इससे अधिक वह और कौन सी दुर्दशा देखना चाहते हो? निश्चय ही आपके धैर्य एवं संयम समयोचित नहीं हैं। कहना न होगा कि इसप्रकार विशेषण पदों से लसित वाक्यरचना युधिष्ठिर के धृति तथा संयम पर प्रश्नचिन्ह लगाने में पूर्णतः समर्थ है, अतः उचित है।

मधुरैरवशानि लम्भयन्नपि तिर्यञ्चि शमं निरीक्षितैः।
परितः पटु विभ्रदेनसां दहनं धाम विलोकनक्षमम्।।
सहसोपगतः सविस्मयं तपसां सूतिरसूतिरापदाम्।
ददृशे जगतीभुजा मुनिः स वपुष्मानिव पुण्यसञ्चयः।।

किराता०, २.५५.५६

उपर्युक्त युग्म के अन्तर्गत महर्षि वेदव्यास के पावन एवं अलौकिक चरित के अनुकूल प्रयुक्त हुए "मधुरैः निरीक्षितैः, एनसां वहनम्, धाम विभ्रत, तपसां सूतिः आपदां असूतिः तथा वपुष्मान् पुण्यसंचयः इव" आदि पदों का पुंजवाक्यशरीर एक अनघ ऋषि व्यक्तित्व का भावचित्र प्रस्तुत करने में अपना अद्‌भुत कलात्मक औचित्य प्रदर्शित करता है। परन्तु पूरी की पूरी वाक्यरचना एक अंग में अपना औचित्य निर्वाह नहीं कर सकी है। कवि ने ऋषि वेदव्यास के व्यक्तित्व को मूर्तता देने वाले किसी भी प्रभावी पद का संयोजन नहीं किया है अतः पूरा भावचित्र बिना चित्र-फलक के रह जाता है। दूसरे शब्दों में कहें तो सही बिम्ब नहीं उभर पाता। इस न्यूनता को हम महाकवि कालिदास के 'कुमारसम्भवम्' के उदाहरण से तुलना करके सहज जान सकते हैं- अथाजिनाषाढधरः प्रगल्भवाग् ज्वलन्निवब्रह्ममयेन तेजसा (कुमार० ५.३०)। यहाँ पार्वती की दृढ़भक्ति की परीक्षा लेने के लिए आये हुए ब्रह्मचारी (शिव) का भावचित्र बहुत व्यापक परिवेश में उभारा है।

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम्।।

किराता०, ३.२०

यहाँ द्रोणाचार्य के असहनीय रौद्र रूप व भीषणशक्ति का परिचय देकर विपक्ष की प्रबलता तथा वर्तमान में उसके प्रतिरोध में पाण्डवों की अक्षमता बताना महर्षि वेदव्यास के कथन का प्रमुख वाक्यार्थ है।

महाकवि भारवि द्वारा द्रोणाचार्य के लिये प्रयुक्त ''**कोपज्वलितं, परिस्फुरल्लोलशिलाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तम् अन्तवह्निम् इव**'' आदि पदों के समूहन से निष्पन्न वाक्यार्थ रौद्ररस का पर्य्याप्त व्यंजक होने से काव्यार्थ को अतिरिक्त उत्कर्ष प्रदान करता है। ऐसी वक्ररेखीय शैली में अंकित इस वाक्यार्थ से जहाँ विपक्ष की असाधारण शक्ति का संकेत मिलता है वहीं तदनुरूप उद्योग करने की प्रेरणा का भी संकेत मिलता है। फलतः भाव और कथ्य की अनुरूपता रखने वाला उपर्युक्त वाक्य वाक्यौचित्य का उत्कृष्ट निदर्शन है।

उपारताः पश्चिमरात्रिगोचरादपारयन्तः पतितुं जवेन गाम्।
तमुत्सुकाश्चक्रुरवेक्षणोत्सुकं गवां गणाः प्रस्नुतपीवरौधसः।।

किराता०, ४.१०

प्रस्तुत श्लोक में कवि ने गोचर भूमि से लौटती हुई आपीन भारयुक्त गौओं के प्रति अर्जुन का औत्सुक्य प्रदर्शित करते हुए ''**जवेन गां पतितुं अपारयन्तः प्रस्तुतपीवरौधसः उत्सुकाः गवां गणाः**'' आदि पदों के चमत्कारी समूहन से गौओं की धावन क्रिया में असमर्थता, स्तनों से क्षीरक्षरणता तथा अपने वत्सों के प्रति उत्सुकतादि भावों की कल्पना की है। इसप्रकार के पदसमूहन से निष्पन्न वाक्य जहाँ रचनाकार की कलागत अभिरुचि का परिचायक होता है वहीं पाठक के मन में वर्ण्य वस्तु का

बिम्ब विधान करने वाला भी होता है। एतावता सिद्ध है कि उपर्युक्त वाक्य वर्ण्य वस्तु के सर्वथा अनुरूप है।

रहितरत्नचयान्न शिलोच्चयानपलताभवना न दरीभुवः।
विपुलिनाम्बुरुहा न सरिद्वधूरकुसुमान्दधतं न महीरुहः।।

किराता०, ५.१०

उपर्युक्त श्लोक में पर्वतराज हिमालय के वैभव का सुन्दर चित्रण किया गया है। महाकवि ने रत्नयुक्त शिखरों का लता गृहों से युक्त गुफाओं का, तटप्रान्त और कमलों से युक्त नदियों का तथा पुष्पमंडित वृक्षों का समुचित रूपेण वर्णन करके वाक्यार्थ को प्राणवान् बना दिया है। ऐसे कलात्मक पदों से युक्त वाक्यरचना जहाँ पाठक के मन पर वैभव सम्पन्न हिमालय का मूर्त बिम्ब उतारने में सर्वथा सफल होने के कारण उचित है वहीं उक्त वाक्य का नकारात्मक शैली में अनुबन्ध विशेष रूप से ध्येय है, यदि यही वाक्य विध्यात्मक होता तो यह सम्भावना बनी रह सकती थी कि शिखरों, गुहाओं, सरिताओं एवं वृक्षों की तत्तत् विशेषण विशिष्टता सर्वत्र न हो, किन्तु महाकवि भारवि के निषेधमूलक वाक्य में यह स्पष्ट अभिहित है– कि हिमालय का कोई भी शिखर, गुहा, सरिता अथवा वृक्ष निर्दिष्ट विशेषताओं से रहित नहीं है।

स बिभर्ति भीषणभुजङ्गभुजः पृथु विद्विषां भयविधायि धनुः।
अमलेन तस्य धृतसच्चरिताश्चरितेन चातिशयिता मुनयः।।

किराता०, ६.३२

अर्जुन के तापस रूप को देखकर आश्चर्यचकित हुए वनेचरों (वनदेवों) का अपने स्वामी इन्द्र के प्रति कथन है कि भयंकर भुजंगों के समान भुजाओं वाला वह कोई व्यक्ति शत्रुभयविधायि धनुष को धारण किये हुए हैं। उसके पवित्र आचरणों ने चरित्र के धनी मुनियों को भी जीत लिया है।

महाकाव्य के नायक तपोनिष्ठ अर्जुन का असामान्य व्यक्तित्व चित्रित करना महाकवि का अभिप्रेतार्थ है। भारवि ने इस उद्देश्य के लिए भाषा की गौड़ी व वैदर्भी दो विपरीत रीतियों में उपनिबद्ध हो, समानाधिकरण उपवाक्यों के माध्यम से भावों के दो विपरीत ध्रुवों को एक वाक्य में संयोजित करके अपनी अम्लान प्रतिभा का भी असामान्य रूप प्रतिभासित कर दिया है। एक ओर भीषणभुजंगभुज अर्जुन का भयविधायिधनुष को धारण करना और दूसरी ओर अपने निर्मल चरित्र से सच्चरित्र मुनियों को परास्त करना निश्चय ही व्यक्तित्व के दो विपरीत छोर हैं, जिनके प्रदर्शन से रचनाकार अपने अभीष्ट काव्यार्थ को अभिव्यक्ति देने में पूर्णतः सफल हुआ है।

अवचयपरिभोगवन्ति हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि काननानि।
अभिदधुरभितो मुनिं वधूभ्यः समुदितसाध्वसविक्लवं च चेतः।।

किराता०, १०.५

प्रस्तुत श्लोक में तपस्वी अर्जुन के आश्रम की विशेषता वर्णित की गई है। महाकवि ने इस वर्णन को काव्यानुरूप बनाने के लिये ''**अवचयपरिभोगवन्ति, हिंस्रैः सहचरितान्यमृगाणि** तथा **समुदित साध्वसविक्लवं चेतः** पदों का प्रयोग करके अर्जुन के आश्रम के अनुरूप पुष्पादिसामग्रीसम्पन्नता, विरोधिसत्वोज्झितपूर्वमत्सरता तथा शृंगारादिभोगाननुरूपता का प्रतिपादन किया है। ऐसे कलात्मक पदों के समूहन से की गई वाक्यरचना काव्यार्थ का अनुरूप पोषण करती हुई वाक्यौचित्य का सुन्दर निदर्शन बन गयी है।

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम्।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः।।

किराता०, ११.६७

प्रस्तुत श्लोक में तपस्वी अर्जुन देवराज इन्द्र को अपनी तपस्या का वास्तविक उद्देश्य बताने के लिए ''**अयशःपङ्कम्, वैधव्यतापिता-रातिवनितालोचनाम्बुभिः** ''इस वाक्यांश का उचित प्रयोग करके यह सिद्ध कर देना चाहता है कि शत्रुओं के छल से हम पर जो अपयश का कीचड़ लगा है उसे मैं उन्हीं शत्रुओं की विधवा स्त्रियों के वैधव्यसन्ताप से निकले हुए आंसुओं से धो डालना चाहता हूँ'' अपने अभिप्रेत काव्यार्थ को अत्यन्त सशक्त बनाने में अर्जुन द्वारा प्रयुक्त उक्त वाक्य वीररस की तीव्र अभिव्यक्ति कराने में चमत्कारी प्रयोग है अतः औचित्य सीमा के अन्तर्गत आएगा।

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे।।

किराता०, १३.३१

प्रस्तुत श्लोक में किरात एवं अर्जुन के मध्य रौद्र एवं भयावह वराह की विवशता एवं छटपटाहट भरी मृत्यु का चित्र उपस्थित करना कवि का अभिप्रेतार्थ है। इसे काव्यानुरूप देने में ''**उष्णशोणितार्द्रः, खुरदंष्ट्राग्र-निपातदारिताश्मा** तथा **विहितामर्षगुरु ध्वनिः**'' पदों से जहाँ वराह की भयावह रौद्ररूपता का प्रतिपादन किया गया है वहीं ''ईक्षितेन्द्रसूनुः'' पद ने वराह की स्वार्थविघातजन्यरोष के रहते हुए भी विवशता का मूर्तबिम्ब उपस्थित कर दिया है। महाकवि भारवि ने कर्मवाच्य की वाक्यरचना में वराह को कर्म बताकर उसकी विवशता का और भी अधिक पोषण कर दिया है। यहाँ कर्त्ता असु है वराह नहीं, प्राणों ने उसे त्यागा है, उसमें प्राणों को भी त्यागने का सामर्थ्य कहाँ?

तिष्ठतां तपसि पुण्यमासजन्सम्पदोऽनुगुणयन्सुखैषिणाम्।
योगिनां परिणमन्विमुक्तये केन नास्तु विनयः सतां प्रियः।।

किराता०, १३.४४

संस्कृत महाकाव्यों के लक्षणबोधतत्वों में चतुर्वर्गफलप्राप्ति एक प्रमुख तत्त्व है। प्रस्तुत श्लोक में उसके साधन विनय का प्रतिपादन करते हुए दूत किरात का अर्जुन को शरापहरण की ओर से विरत करना महाकवि का अभीष्ट काव्यार्थ है।

यहाँ एकतन्त्रेण धर्मार्थकाममोक्षपुरुषार्थचतुष्टय का विनय को साधन बताने के लिए पूर्वकालिक क्रियापदों का शत्रन्त प्रयोग जहाँ सिद्धि की वर्तमानकालिकता को व्यक्त कर रहा है, वहीं अस्तु क्रिया में सम्भावना अर्थ में किया गया लोट् प्रतिपाद्य अर्थचतुष्टयसिद्धि की निःसन्दिग्धता को सिद्ध कर रहा है। यहाँ वनेचर की वाचोयुक्ति प्रबलप्रलोभन के द्वारा अर्जुन को शर से विरत करने एवं अपने स्वामी के इष्ट का साधन करने में प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर हो रही है। इस प्रकार महापण्डित रचनाकार ने साभिप्राय पदों के समूहन द्वारा की गई वाक्यरचना से अभिप्रेत काव्यार्थ को भरपूर अभिव्यक्ति प्रदान की है।

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः।।

किराता०, १४.२२

अर्जुन का अपनी अपेक्षा वनेचर के स्वामी को सर्वथा निकृष्ट सिद्ध करना प्रस्तुत श्लोक का अभीष्ट काव्यार्थ है। इसके लिए अपने पक्ष में "वर्णाश्रमरक्षणोचिताः" तथा अपर पक्ष में "जातिहीनाः व मृगजीवितच्छिदः" पदों का प्रयोग तो स्वार्थ की यथेष्ट अभिव्यक्ति कर ही रहा है, "भवन्तिगोमायुसखा न दन्तिनः" इस विशेष वाक्यार्थ द्वारा पूर्व सामान्य वाक्यार्थ का साधर्म्य के आधार पर समर्थन करके महाकवि ने अर्थगौरव का प्रमाण भी प्रस्तुत कर दिया है। फलतः वाक्यौचित्य का यह सुन्दर निदर्शन है।

दिशः समूहन्निव विक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम्।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः।।

वही, १४.५०

अपने ऊपर प्रमथगणों का किया हुआ प्रहार देखकर अर्जुन अपने भयंकर बाणों की वर्षा करने लगे– इस श्लोक का यह मुख्य प्रतिपाद्य है।

महाकवि भारवि ने उक्त काव्य में सभी पदों के कलात्मक समूहन से रौद्र रस की अभिव्यक्ति कराने में असाधारण सफलता प्राप्त की है। अनेक पूर्वकालिक क्रियाओं के प्रयोग से रचनाकार ने प्रलयंकर दृश्य उपस्थित करके अर्जुन के लिये प्रलय की सार्थक उत्प्रेक्षा का सफल प्रयास किया है। फलतः उपर्युक्त वाक्य अभीष्ट काव्यार्थ की भरपूर अभिव्यक्ति कराने के कारण वाक्यौचित्य की कसौटी पर खरा उतरता है।

गणाधिपानामविधाय निर्गतैः परासुतां मर्मविदारणैरपि।
जवादतीये हिमवानधोमुखैः कृतापराधैरिव तस्य पत्रिभिः।।

किराता०, १४.५४

प्रमथ गणों का संहार करने में अर्जुन के बाण असफल हो गये– यह सिद्ध करना महाकवि का प्रमुख उद्देश्य है। यहाँ काव्यानुरूप शैली को प्रधानता देते हुए भारवि ने "पत्रिभिः कृतापराधैः इव अधोमुखैः जवात् हिमवान् अतीये" इस वाक्यांश से बाणों का मानवीकरण किया है जिससे स्पष्ट है कि प्रमथगणों को मारने में असफल अर्जुन के बाण लज्जित होकर सिर नीचा करके हिमालय में जा छिपे। इस उत्प्रेक्षा से रचनाकार अपने पाठक को "अर्जुन के बाणों की लक्ष्य सिद्धि की विफलता के परिणाम–स्वरूप लज्जा व ग्लानि आदि भावों की अभिव्यक्ति कराने में सर्वथा सफल रहा है।

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मंडलं पाण्डुसूनौ।

कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातुं
विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे।।

वही १४.६५

अर्जुन के प्रचण्ड पराक्रम के सामने किरात सेना का पराजय स्वीकार करना ही प्रस्तुत श्लोक का अभीष्ट काव्यार्थ है। पाण्डुसूनु के वीर रूप की अपेक्षा भीम भयंकर रूप का प्रकर्ष होने के कारण विजयलक्ष्मी अर्जुन का वरण करने में सकुचायी, जैसे तैसे उसने डरकर शिवसेना का पक्ष छोड़कर उसका वरण किया। यहाँ भारवि ने चमत्कारिणी शैली में "प्रकर्षतन्त्रता हिरणे जयत्री:" सिद्धान्त का पोषण करते हुए मानवीय भावनाओं का चाक्षुष बिम्ब उभारने में असाधारण सफलता पायी है।

निष्कर्ष

भाषागत पदों एवं वाक्यों के एक ही छन्द में विशिष्ट प्रयोग से हमारे कृतिकार महाकवि भारवि ने अपने कथ्य को सर्वत्र चमत्कारी बनाने में अनुकूल सफलता प्राप्त की है। इतना ही नहीं कथानक के परिपार्श्ववर्ती सम्पूर्ण वातावरण को प्रभावी बनाने के लिए भारवि के उचित वाक्यप्रयोग ने भी उन्हें अपने कलागतवैशिष्ट्य, चारित्रिकउत्कर्ष, भावगतगाम्भीर्य एवं अर्थगतगौरव आदि अनेकविध विशेषताओं का पात्र बना दिया है।

पदवाक्यौचित्य की दृष्टि से किया गया यह विमर्श यद्यपि कवि के समसामयिक सामन्तवादी सामाजिक जीवन के अधिक निकट है तथापि महाभारतकालीन कथानक जो स्वयं राजकीय परिवार से ही सम्बन्ध रखता है, जिस परिधि में देखा और आंका जा सकता था, कवि की सूक्ष्म दृष्टि उसे देखने और आंकने में कहीं त्रुटित नहीं हुई है। आज के पाठक को समाज के सामान्य जीवन का उत्स भारवि के भारी-भरकम महाकाव्य के शिखर से यद्यपि झरता दिखाई नहीं देगा तथापि विशिष्ट जीवन की झाँकी देखने के अभ्यासी विपश्चिज्जगत् को यहाँ निराश नहीं होना पड़ेगा।

चतुर्थ विमर्श पूर्ण

पञ्चम विमर्श

प्रकृति प्रत्ययादि व्याकरणिक इकाईगत औचित्य

गत अध्याय में महाकवि भारवि की काव्यभाषा की दो महत्वपूर्ण संरचनात्मक इकाइयों–पद तथा वाक्य के प्रयोग का औचित्य विवेचित करने के पश्चात् अब हम अपने महाकवि की भाषा की पदात्मक इकाइयों के घटक बनने वाले प्रकृतिप्रत्ययादि व्याकरणिक इकाइयों के साभिप्राय प्रयोग की समीक्षा करेंगे तथा उनके काव्यगत औचित्य का अवलोकन करेंगे। यहाँ जिन व्याकरणिक इकाइयों के काव्यगत औचित्य पर क्रमशः विचार करना है उनमें क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात तथा काल प्रमुख हैं। ऐसे विवेचन से जहाँ कृति विशेष का व्याकरणिक इकाईगत समीक्षण होगा वहीं भारवि की काव्यभाषा के प्रति कलात्मक अभिरुचि का भी पर्याप्त ज्ञान होगा।

यद्यपि महाकवि भारवि भाषा के प्रयोग में बहुत दक्ष हैं तथापि उनकी कृति का समीक्षण करते समय हमने उनके द्वारा प्रयुक्त कतिपय व्याकरणिक इकाइयों का यत्र तत्र शिथिल प्रयोग भी दृष्टि में रखा है।

क्रियौचित्य–

यूँ तो रचनाकार अपने पाठक को काव्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने के लिए वाक्य में किसी न किसी क्रिया का प्रयोग करता ही है परन्तु उस क्रिया विशेष के प्रयोग से यदि काव्यार्थ चमत्कृत होता है तो वह क्रिया कवि की औचित्य दृष्टि का परिणाम है। यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होगा कि हमारा प्रयत्न एक ही अभिधेय को प्रकट करने वाली अनेक क्रियाओं के प्रयोग के औचित्य से ही नहीं है "अपितु किसी भी क्रिया के प्रयोग से कवि अपने पाठक को काव्यार्थ की तीव्र अभिव्यक्ति कराने में

कहाँ तक सफल रहा है'' –इस धारणा से है।

यहाँ महाकवि भारवि द्वारा प्रयुक्त कतिपय क्रिया पदों का औचित्य विवेचन इस प्रकार है:

सखीनिव प्रीतियुजोऽनुजीविनः समानमानान्सुहृदश्च बन्धुभिः।
स सन्ततं दर्शयते गतस्मयः कृताधिपत्यामिव साधु बन्धुताम्।।

किराता०, १.१०

सुयोधन के व्यवहार की कृत्रिमता व्यक्त करना गुप्तचर वनेचर का प्रमुख लक्ष्य है। महाकवि ने इस लक्ष्य की तीव्र अभिव्यक्ति कराने में 'दर्शयते' क्रियापद का प्रयोग करके यह स्पष्ट कर दिया है कि ''सुयोधन जनता को यह दिखाना चाहता है कि मेरे सेवक, सेवक नहीं मित्र हैं, मेरे मित्र, मित्र नहीं कुटुम्बी हैं, मेरे कुटुम्बी बन्धु नहीं मेरे अधिकारी हैं'' इस समस्त व्यवहार में वास्तविक न होकर प्रदर्शन है। इस भाव का सर्वांश में पोषण 'दर्शयते' क्रियापद के उचित प्रयोग से ही हुआ है। फलतः प्रस्तुत क्रिया के चमत्कारी प्रयोग ने सम्पूर्ण छन्द को ही चमत्कृत कर दिया है।

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिवश्रियम् ।।

किराता०, १.३१

पाण्डवों से अलग हुई राज्यलक्ष्मी का प्रमुख कारण सम्राट् युधिष्ठिर की शिथिलता ही है, यह अभिव्यक्त करना द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है। द्रौपदी के इस काव्यार्थ के अनुरूप प्रयुक्त हुए 'अपहारयेत्' क्रियापद से ध्वनित होने वाला भाव इस तथ्य में निहित है कि अपनी पत्नी की भाँति इस राज्यलक्ष्मी को तुमने दूसरों से जानबूझकर अपहरण कराया है। स्पष्ट रहे कि आत्मनेपदान्त 'अपहारयेत्' क्रिया का प्रयोग न करके परस्मैपदान्त 'अपहारयेत्' क्रिया का प्रयोग करके द्रौपदी यह बताना

चाहती है कि इस अपहरण में केवल शत्रु का स्वार्थसिद्ध हो रहा है, तुम्हारा कुछ नहीं, जबकि किसी अन्य से कोई काम कराने वाला स्वार्थ साधन के प्रति सतत सजग रहता है। इस प्रकार प्रस्तुत क्रिया के प्रयोग से सद्विशेषणों से साधु समलङ्कृत सम्पूर्ण पद्य चमत्कृत हो उठा है।

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः।।

किराता०, १.३४

राजसी वैभव का उपभोग कर चुकने वाले महारथ भीम की वर्तमान दयनीय दशा की ओर इंगित कर सत्य के पक्षपाती युधिष्ठिर को उत्तेजित करना प्रस्तुत श्लोक का अभिप्रेतार्थ है। भारवि ने इस श्लोक में 'दुनोति' क्रिया के उचित प्रयोग द्वारा द्रौपदी के कथन को भरपूर सजीवता प्रदान की है। भीम के लिए दिये गये सारे विशेषण तभी चरितार्थ होते दिखाई देते हैं जब वे उसकी वर्तमान दशा में युधिष्ठिर को पीड़ा पहुँचा सकें। इसके लिए प्रस्तुत प्रश्नवाचक वाक्य में 'न' पद के साथ किया गया 'दुनोति' क्रियापद का प्रयोग भावानुरूप औचित्य रख रहा है।

ध्वंसेत हृदयं सद्यः परिभूतस्य मे परैः।
यद्यमर्षः प्रतीकारं भुजालम्बं न लम्भयेत्।।

किराता०, ११.५७

शत्रु द्वारा किये गये अपमान का प्रतीकार करने के लिए ही हम जीवित हैं– यह प्रकट करना अर्जुन का मुख्य प्रतिपाद्य है। इस कथन को काव्यानुरूप शैली में प्रयुक्त करते हुए 'ध्वंसेत्' तथा 'लम्भयेत्' दो क्रिया पदों का प्रयोग करके अर्जुन यह बताना चाहता है कि मेरा हृदय अत्यन्त स्वाभिमानी है, वह शत्रुओं से अपमानित होकर स्वयं नष्ट हो जाता, उसे ध्वस्त करने के लिए किसी अन्य कर्त्ता की आवश्यकता नहीं थी। अमर्ष

ने प्रतिक्रिया रूप हाथ का सहारा देकर उसे बचाया है। तात्पर्य यह है कि उसका हृदय बदला लेने के लिए ही जीवित है, निर्लज्ज रहकर नहीं। फलतः भारवि ने आत्मनेपदी 'ध्वंसेत्' क्रिया के प्रयोग से हृदय की स्वाभिमान रक्षा तथा परस्मैपदी 'लम्भयेत्' क्रिया के प्रयोग से अमर्ष का हृदय को सहारा, इन दोनों भावों का समुचित पोषण किया है।

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे।।

किराता०, ११.७९

सहस्राक्ष की आराधना से अपयश के कण्टक को निकाल फेंकने का संकल्प व्यक्त करना प्रस्तुत श्लोक का अभिप्रेतार्थ है। महाकवि ने उभयपदी 'हृञ्' धातु का 'उद्धरे' क्रिया-प्रयोग किया है। व्याकरणशास्त्र की दृष्टि से 'उद्धरे' तथा उद्धरिष्ये दोनों में से किसी भी क्रिया-पद का प्रयोग किया जा सकता है (वर्तमानसामीप्येवर्तमान्वद्वा अष्टा० ३.३.१३१)। दोनों पद-विकल्पों में से अभिमत भाव की अभिव्यक्ति करने में पटुतर पद का चयन करना महाकविकौशल का परिचायक होता है तथा यह कुशलता ही चयन में औचित्य का बीज होती है।

भारवि ने वर्तमानसामीप्य को वर्तमान में पर्यवसित करना ही अधिक उचित समझा है, क्योंकि इससे वक्ता अर्जुन के संकल्प की दृढ़ता तथा क्रिया की आशुभाषिता अभिव्यक्त होती है। भविष्यत्कालिक क्रियापद स्वभावतः कालिक दूरी को बढ़ा देता और उससे निश्चित ही काव्य-सौन्दर्य की हानि होती।

कारकौचित्य -

भाषा के सतही स्तर पर 'कारक' का अपना महत्वपूर्ण योगदान है। काव्यकार किसी भी वस्तुविशेष का कर्तृत्व प्रकट करने के लिए कारक

विशेष के प्रयोग से रचना में सौन्दर्य तथा औचित्य आदि अनेक गुण उत्पन्न करता है। प्रस्तुत सन्दर्भ में महाकवि द्वारा प्रयुक्त कारक प्रयोग का औचित्य परखने के लिए हमें प्रमुख रूप से यही दृष्टि रखनी होगी कि रचना में प्रयुक्त होने वाले कारक विशेष से काव्यार्थ को कितना उत्कर्ष मिल रहा है, ऐसे ही कारक का उचित प्रयोग सटीक कहा जायेगा। हम अपने अध्ययन को व्यापक तथा सुस्थिर बनाने के लिए कारक के भेदों के परिप्रेक्ष्य में किरातार्जुनीय महाकाव्य का परीक्षण करेंगे। कतिपय निदर्शन इस प्रकार हैः

कर्तृकारकौचित्य :

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः।।

किराता०, १.४६

राजायुधिष्ठिर के प्रति शुभकामनाएँ व्यक्त करती हुई द्रौपदी का कथन है कि "जिसप्रकार प्रातःकालीन सूर्य को उसकी कान्ति पुनः प्राप्त हो जाती है, उसी प्रकार आपको भी आपकी राज्यलक्ष्मी पुनः प्राप्त होवे।"

यहाँ द्रौपदी अपने कथन को अधिक प्रभावशाली बनाने के लिए 'लक्ष्मी' पद का कर्त्ताकारक में प्रयोग कर रही है। ऐसे काव्यानुरूप प्रयोग से निकलने वाली व्यंजना इस तथ्य में निहित है कि शत्रुरूप अन्धकार को मिटा देने के पश्चात् उदित होने वाले सूर्य की भाँति आपको लक्ष्मी स्वयंवरा की भाँति वरण करने के लिए चली आयेगी। इस प्रकार के कारकप्रयोग से सिद्धि की त्वरा पूर्णतया ध्वनित होती है। अतः 'लक्ष्मी' को

कर्मकारक रूप में प्रयोग न करके कर्तृकारक के रूप में प्रयोग अधिक काव्यात्मक औचित्य रखता है।

कर्मकारकौचित्य-

भवादृशेषु प्रमदाजनोदितं भवत्यधिक्षेप इवानुशासनम्।
तथापि वक्तुं व्यवसाययन्ति मां निरस्तनारीसमया दुराधयः।।

किराता०, १.२८

राजसत्ताच्युत युधिष्ठिर के प्रति आक्षेप युक्त वचन कहने के लिए मनोव्यथाओं द्वारा अपने को बाध्य किया जाना द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है।

महाकवि भारवि ने इस अर्थ को सशक्त एवं काव्यानुरूप बनाने के लिए द्रौपदी के वाचक सर्वनाम 'माम्' पद में कर्मकारक का प्रयोग करके जहाँ एक ओर द्रौपदी की तीव्र मनोव्यथाओं का शत्रु से शीघ्र प्रतिशोध करना व्यंजित किया है वहीं दूसरी ओर भारतीय नारी का पति पर आक्षेप करते हुए उपदेशात्मक वाणी का प्रयोग उसकी मर्यादा का उल्लंघन करने वाला होगा इसीलिए स्वयं के कर्तृत्व को दूरकर 'दुराधयः' पद का कर्म बन जाने से विवशता के फलस्वरूप मर्यादा रक्षण का भार भी प्रदर्शित किया है। फलतः उक्त पद्य में प्रयोज्यकर्त्ता का कर्मकारक के रूप में प्रयोग काव्यार्थ की सशक्त अभिव्यक्ति करा रहा है।

करणकारकौचित्य :

अभिवर्षति योऽनुपालयन्विधिबीजानि विवेकवारिणा।
स सदा फलशालिनीं क्रियां शरदं लोक इवाधितिष्ठति।।

किराता०, २.३१

प्रस्तुतश्लोक में महाकवि ने कर्मरूपी बीज को फलरूप में प्राप्त कराने के लिए 'विवेककारि' के द्वारा सेचन का समर्थन किया है। यहाँ 'विवेककारिणा' पद में करणकारक का प्रयोग करके भारवि ने अपने इस अभिप्रेत को व्यक्त किया है कि किसी भी क्रिया के फल की प्राप्ति में प्रकृष्टतम उपकारक विवेक ही हो सकता है अन्य कोई साधन नहीं। अतः किसी भी स्थिति में विवेक का परित्याग नहीं किया जाना चाहिये। इस प्रकार उक्त करणकारक के प्रयोग से काव्यार्थ सौन्दर्य को प्राप्त हो रहा है।

सम्प्रदानकारकौचित्य :

योगं च तं योग्यतमाय तस्मै तपःप्रभावाद्वितार सद्यः।
येनास्य तत्वेषु कृतेऽवभासे समुन्मिमीलेव चिराय चक्षुः।।

किराता०, ३.२६

उपर्युक्त श्लोक में महर्षि वेदव्यास के द्वारा योगविद्या का अर्जुन को प्रदान किया जाना महाकवि के कथन का अभिधेयार्थ है।

एतदर्थ वितरण क्रिया के कर्म 'योग' को अर्जुन से संयुक्त करने के लिए उसके लिए 'तस्मै' सम्प्रदानकारकीय सर्वनाम का प्रयोग करके भारवि ने अपनी व्याकरणिक प्रतिभा का तो अत्यधिक परिचय दिया ही है सम्प्रदान की सर्वथा अन्वर्थता भी सिद्ध कर दी है। अर्जुन ने महर्षि वेदव्यास से योग प्राप्त किया इत्याद्यर्थक वाक्य में व्यास जी का कर्तृत्व तो कुण्ठित हो ही जाता अर्जुन की योग्यतम पात्रता भी प्रकट नहीं हो पाती। फलतः यहाँ सम्प्रदानकारक का उचित प्रयोग है।

अपादानकारकौचित्य :

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः।।

किराता०, १४.२५

इस श्लोक के 'दृष्टिविषात्' पद में अपादनकारक का प्रयोग विचारणीय है। जिस सर्प की दृष्टि में ही विष है उससे उसके सिर की मणि ग्रहण करने की इच्छा खतरे से खाली नहीं है। यदि यहाँ दृष्टिविषस्य पद का प्रयोग कर दिया जाय तो जिघृक्षु को इसीलिए कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि दृष्टिविष की भी 'शिरोमणि' (उसके सिर से पृथक होने की स्थिति में) ग्रहण किये जाने में कोई कठिनाई नहीं है। अपादानकारक के उचित प्रयोग से यहाँ यह काव्यार्थ भी पुष्ट हो रहा है कि मणि दृष्टिविष के सिर से पृथक नहीं है उसे लेने वाले को दृष्टिविषसर्प, दृष्टि के विष से ही समाप्त कर देगा। ठीक इसी प्रकार किरात का बाण अर्जुन के अधिकार क्षेत्र में है उसे लेने की इच्छा करना खतरे से खाली नहीं है।

अधिकरणकारकौचित्य :

उदाहरणमाशीःषु प्रथमे ते मनस्विनाम्।
शुष्केऽशनिरिवामर्षो यैररातिषु पात्यते।।

किराता०, ११.६५

प्रस्तुत श्लोक में उन पुरुषों को मनस्वियों में अग्रगण्य बताया गया है जिनका क्रोध शत्रुओं पर ऐसे पड़ता है जैसे शुष्क तृणपुंज का वज्र।

यहाँ 'अरातिषु' पद में अधिकरण कारक का प्रयोग इस चमत्कारी काव्यार्थ की अभिव्यक्ति कर रहा है कि जिस प्रकार ऊपर के वज्रपात से तृणपुंज का कोई भाग दाह से बच नहीं पाता, ठीक इसी प्रकार मनस्वी

पुरुष का शत्रुओं पर प्रक्षिप्त क्रोध उसे सर्वांशतः भस्म कर देता है। यदि अराति शब्द में कर्मकारक का प्रयोग होता तो यह सम्भावना थी कि वह अमर्ष से किसी न किसी रूप में आत्मरक्षा भी कर पाता। अधिकरण कारक के प्रयोग ने जहाँ इस सम्भावना को निर्मूल कर दिया है वहीं 'अमर्ष' उपरिनिपात ने उसके समूल दाह का चमत्कारी अर्थ भी ध्वनित कर दिया है। इस प्रकार महाकवि भारवि के इस अधिकारणकारक के औचित्य से काव्यार्थ उत्कर्ष प्राप्त करता है।

सम्बोधनौचित्य -

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते विवर्तमानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुंशुष्कमिवाग्निरुच्छिखः।।

किराता०, १.३२

प्रस्तुत पद्य में मनस्विगर्हित मार्ग पर चलने वाले युधिष्ठिर में क्रोध की ज्वाला उद्दीप्त करने के लिए द्रौपदी द्वारा उनके लिए दिया गया 'नरदेव!' सम्बोधन अत्यन्त सटीक है। क्योंकि अकेला 'नर' पद ही जहाँ 'नयति अन्यान् अनुगामित्वेन सन्मार्गम्'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सन्मार्ग पर चलने के लिए पर्याप्त है, वहाँ 'नरदेव' पद ने तो उसकी गरिमा को पूर्णतः उत्कर्ष कोटि में ला दिया है। यही कारण है कि 'कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरतः' इत्यादि वाक्य प्रश्नात्मक शैली में रखा गया है परामर्श शैली में नहीं। इस प्रकार 'नरदेव' सम्बोधन से काव्यार्थ उदात्त तथा द्रौपदी का अभिप्रेतार्थ चमत्कारी हो उठा है।

लिङ्गौचित्य -

प्रायः भाषा में एक ही शब्द के अनेक पर्यायों का भिन्न-भिन्न लिंगों में प्रयोग पाया जाता है, ये पर्याय विशेष्य तथा विशेषण के लिंग के अनुरूप ही प्रयुक्त होते हैं किन्तु यह सब होते हुए भी औचित्य समीक्षा में

रसानुरूप लिंगवाची शब्दों का उचित प्रयोग ही लिंगौचित्य कहा जाता है। रचनाकार द्वारा प्रयुक्त लिंगवाची शब्द का तीव्र अर्थ प्रतीति कराने वाला प्रयोग ही उचित माना जायेगा।

महाकवि भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीय में लिंगों के कतिपय उचित प्रयोग यहाँ द्रष्टव्य हैं–

पुंलिङ्गौचित्य –

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरः स्रजां रजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु वर्हिषाम्।।

किराता०, १.४०

उपर्युक्त श्लोक में द्रौपदी ने राजा युधिष्ठिर के चरणों की वर्तमान दयनीय दशा का चित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि "राजाओं की शिरोमालाओं के पराग से जिन चरणों का रंजन हुआ करता था वे आज कुशाओं के वनों पर पड़ रहे हैं। ये कितने कष्ट की बात है।" यहाँ पुंस्त्वविशिष्ट 'चरणौ' पद के प्रयोग से भारवि ने जहाँ चरणों के पूर्वकालिक सत्वोपचय का संकेत दिया है, वहीं वर्तमान काल में (पुंस्त्वविशिष्ट होते हुए भी) उनकी दयनीय दशा की ओर खेद भरा इंगित किया है। चरणों के स्थान पर नपुंसकत्वविशिष्ट 'पद' शब्द के प्रयोग से उभयविध दशाओं का यह पूर्वापर भाव व्यक्त नहीं हो सकता था। फलतः भारवि के पुंलिंग प्रयोग से काव्यार्थ सशक्त हो उठा है।

स्त्रीलिङ्गौचित्य –

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति।।

किराता०, २.६

प्रस्तुत श्लोक में राजा युधिष्ठिर के प्रति भीमसेन का कथन है कि हे राजन्। सम्पूर्ण शास्त्रों में पारंगत होते हुए भी आपकी विवेकशीला बुद्धि क्यों नष्ट हो रही है?

भारवि ने इस काव्यार्थ को अधिक प्रभावशाली, पेशल तथा मृदु बनाने के लिए वाक्य के उपमेय और उपमान 'मतिः' एवं करिणी' दोनों स्थानों पर स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है, जिससे स्त्रीत्वविशिष्ट वस्तुओं की दयनीयता तो प्रकट हो ही रही है, भीम की उनके प्रति दयार्द्रता का भाव भी झलक रहा है। फलतः स्त्रीलिंग के समुचित प्रयोग से प्रस्तुत काव्यार्थ चमत्कृत हो उठा है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि सामान्यतः हाथी के कीचड़ में फंस जाने का व्यवहार में प्रयोग होता है किन्तु यहाँ 'मतिः' उपमेय के लिए करिणी उपमान में स्त्रीलिंग का प्रयोग सर्वथा सटीक ही है। फलतः यहाँ स्त्रीलिंग के प्रयोग से काव्यार्थ चमत्कृत हो उठा है।

पुन्नपुंसकलिङ्गौचित्य –

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि।
आराध्य वा सहस्त्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे।।

किराता०, ११.७९

प्रस्तुत श्लोक में महाकवि ने 'नगमूर्धनि' पद में पुंलिंग का तथा 'अयशः शल्यं' पद में नपुंसकलिंग का प्रयोग करके इस काव्यार्थ का पोषण किया है कि यदि मैं लक्ष्य को प्राप्त न कर सका तो पर्वत के शिखर पर अपने प्राणों को विलीन कर दूंगा अन्यथा इन्द्र की आराधना करके अपयश रूपी कांटे को निकाल फेंकूँगा। यहाँ 'नगमूर्धन' शब्द की पुंस्त्वविशिष्टता जहाँ एक ओर सामर्थ्यहीन अर्जुन की अपेक्षा अपने सत्वोपचय के प्राबल्य को प्रकट कर रही है वहीं "अयशः शल्यं" शब्द की नपुंसकता आराधना से प्राप्त सामर्थ्य से सम्पन्न अर्जुन के समक्ष अपनी निम्नकोटिकता को नहीं छिपा पा रही है। यहाँ अर्जुन के कथन में उत्तरपक्ष में प्रयुक्त "अयशः शल्य" पद और भी अधिक चमत्कार उत्पन्न कर रहा है।

वचनौचित्य -

किसी विशिष्ट भावबोध को प्रकट करने के लिए महाकवि द्वारा प्रयुक्त वचन का उचित प्रयोग ही वचनौचित्य कहलाता है। स्मरणीय है कि प्रत्येक रचनाकार अपने काव्यार्थ को विशेष आकर्षक बनाने के लिए विशिष्ट वचन का प्रयोग करके अर्थ की गरिमा को बढ़ाता है।

भारवि की काव्यभाषा में ऐसे अनेक प्रयोग हैं कि जिनमें वचन के उचित प्रयोग होने से ही चमत्कार आता है। उदाहरण प्रस्तुत हैं–

दुरासदवनज्यायान् गम्यस्तुङ्गोऽपि भूधरः।
न जहाति महौजस्कं मानप्रांशुमलङ्घ्यता।।

किराता०, ११.६३

उपर्युक्त श्लोक में अर्जुन का कथन है कि दुर्गम जंगलों से युक्त अत्यन्त ऊँचा पर्वत भी गम्य हो जाता है किन्तु पराक्रमशाली एवं मनस्वी पुरुष की उच्चता अपनी अलंघनीयता का कभी त्याग नहीं करती।

भारवि ने उक्त श्लोक के 'महौजस्कं' तथा 'मानप्रांशुम्' पदों का एक–वचनान्त प्रयोग करके यह भाव स्पष्ट कर दिया है कि अन्यगुण वाले व्यक्ति अनेक हो सकते हैं किन्तु प्रतापी मनस्वीपुरुष तो कोई विरला ही होता है। यहाँ यह बात विशेष द्रष्टव्य है कि प्रस्तुत श्लोक से अगले दोनों छन्दों में कवि ने विविधगुणसम्पन्न व्यक्तियों की प्रशंसा करते हुए 'गुरुन्कुर्वन्ति ते वंश्यान्' तथा 'प्रथमे ते मनस्विनाम्' श्लोकांशों में बहुवचन का प्रयोग किया है। जिससे अन्य गुणशालियों की व्यापकता तथा ओज व स्वाभिमान जैसे गुणसम्पन्न व्यक्ति की अद्वितीयता का आभास मिलता है।

द्विवचनौचित्य -

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथंत्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।।

किराता०, १.३६

प्रस्तुत श्लोक में नकुल और सहदेव के जंगली जीवन का एक साथ चित्रण करके राजा युधिष्ठिर को उत्तेजित करना द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है।

भारवि ने यहाँ नकुल और सहदेव दोनों के लिए 'यमौ' इस द्विवचनान्त प्रयोग से द्रौपदी की दोनों जुड़वें भाइयों पर करुणाभरी दृष्टि का भाव स्पष्ट किया है। साथ ही इतिहासप्रसिद्ध इस धारणा को भी पुष्ट किया है कि नकुल और सहदेव दोनों एक साथ ही उत्पन्न हुए थे इसीलिए दोनों का एक जैसा वर्णन करना अधिक उचित है। इससे द्रौपदी का दोनों माद्री-सुतों पर समान प्रेम भी स्पष्ट व्यंजित होता है। काव्यार्थ को प्रभावी बनाने के लिए द्विवचन का ऐसा उचित प्रयोग महाकवि की कलागत अभिरुचि का भी परिचायक है।

उन्मज्जन्मकर इवामरापगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः।।

किराता०, १७.६३

उपर्युक्त पद्य में प्रयुक्त द्विवचनान्त 'भुजाभ्यां' पद से यह अर्थ स्पष्ट प्रतिभासित हो रहा है कि किरातवेशधारी शंकर तथा अर्जुन के मल्लयुद्ध में अर्जुन की दोनों भुजाओं से किरात के वक्षस्थल पर किया गया प्रहार निश्चय ही आघात की तीक्ष्णता लिये हुए है। इसीलिये यह द्विवचनविशिष्ट प्रयोग काव्यार्थ की गरिमा को बढ़ाने में पूर्ण सफल है।

बहुवचनौचित्य -३

अनेकराजन्यरथाश्वसङ्कुलं तदीयमास्थाननिकेतनाजिरम्।
नयत्ययुग्मच्छदगन्धिरार्द्रतां भृशं नृपोपायनदन्तिनां मदः।।

किराता०, १.६

सुयोधन के राजसी वैभव का समाचार व्यक्त करना वनेचर के कथन का अभीष्ट काव्यार्थ है।

भारवि ने यहाँ 'दन्तिनां' शब्द के बहुवचनान्त प्रयोग से यह स्पष्ट कर दिया है कि दुर्योधन का प्रभाव न केवल एक दो सामान्यसामन्तों के ऊपर है अपितु हाथियों पर आरुढ़ अनेक विशिष्ट राजाओं तक पर है जिनके मद ने उसके आंगन को आर्द्र बना दिया है। अपने स्वामी के सम्मुख ऐसे प्रयोगों की बहुवचनान्तता जहाँ वनेचर की प्रवचनपटुता तथा काव्यार्थ का सौन्दर्य बढ़ा रही है वहीं शत्रु के बढ़ते हुए प्रभाव को देखकर उससे सावधान रहने की दूरदर्शिता का भी संकेत करती है। फलतः यहाँ बहुवचन का उचित प्रयोग रचनाकार की कलात्मक अभिरुचि का पर्याप्त परिचय देता है।

अनारतं यौ मणिपीठशायिनावरञ्जयद्राजशिरः स्त्रजांरजः।
निषीदतस्तौ चरणौ वनेषु ते मृगद्विजालूनशिखेषु बर्हिषाम्।।

किराता०, १.४०

उपर्युक्त श्लोक में द्रौपदी द्वारा प्रयुक्त 'वनेषु' पद की बहुवचनान्तता से निकलने वाली व्यंजना इस तथ्य में निहित है कि मणिपीठ पर सुशोभित होने वाले आपके ये दोनों चरण अब केवल द्वैतवन में ही नहीं पड़ते अपितु इसीप्रकार के कुशकण्टकाकीर्ण अनेक वनों में भी भटकते फिरते हैं। युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के उद्देश्य से वन शब्द का बहुवचन में किया गया उचित प्रयोग काव्यार्थ की तीव्र अभिव्यक्ति कराने में पूर्ण सफल है।

विशेषणौचित्य –

विशेषण के औचित्य को परखना काव्यसमीक्षा का एक महत्वपूर्ण अंग है। महाकवि अपनी रचना में जिन विशेषणों को प्रयुक्त कर रहा है वे विशेष्य को कितना उत्कर्ष प्रदान करते हैं यह परखना समीक्षक का प्रमुख दायित्व है। ऐसे परीक्षण में आने वाले प्रयोग ही विशेषणौचित्य के सटीक उदाहरण होंगे।

महाकवि भारवि के कतिपय विशेषणौचित्य प्रयोग प्रस्तुत हैं–

महौजसो मानधना धनार्चिता धनुर्भृतः संयति लब्धकीर्तयः।
न संहतास्तस्य नभिन्नवृत्तयः प्रियाणि वाञ्छन्त्यसुभिः समीहितुम्।।

किराता०, १.१९

प्रस्तुत श्लोक में दुर्योधन के प्रति धनुर्धारियों (वीर सैनिकों) की सहानुभूति तथा प्रेम की भावना को प्रकट करना वनेचर के कथन का अभिप्रेतार्थ है।

यहाँ भारवि ने 'धनुर्भृतः' विशेष्य पद के लिए 'महौजसः, मानधना, धनार्चिता, संयतिलब्धकीर्तयः, तथा न संहता न भिन्नवृत्तयः' विशेषण पदों का उचित प्रयोग किया है जो धनुर्धारियों की असाधारणता का बोध कराने में सर्वथा उपयुक्त है, साथ ही ऐसे विशेषणों से यह भी ध्वनित होता है कि जिस दुर्योधन के हित सम्पादन में ऐसे असाधारण गुणों से युक्त सैनिक सदैव लगे रहते हैं उसको पराजित करना सरल नहीं है।

हमारे इस कथन की पुष्टि किरातार्जुनीय के प्रसिद्ध टीकाकार श्री मल्लिनाथ की इस व्याख्या में निहित है कि सैनिकगण महाबली होने के कारण जहाँ उपकारसक्षम हैं वहीं मानधन होने के कारण कुलाचार व शील का पालन करने वाले हैं। धनार्चित होने के कारण उनके अन्यत्र जाने की कोई सम्भावना नहीं है तथा लब्धकीर्ति होने के कारण वे मोदग्रस्त भी

नहीं है। इतना ही नहीं साभिप्राय विशेषणों के प्रयोग से परिकरालंकार तथा महौजसादि विशेषणों के अर्थों का प्राणदान, कर्तव्यता के प्रति विशेषणगत्यहेतुबोधक होने के कारण काव्यलिंग अलंकार की स्थापना टीकाकार मल्लिनाथ ने इस श्लोक में की है– **अत्र महौजसादिपदार्थानां प्राणदानकर्तव्यतां प्रति विशेषणगत्या हेतुत्वाभिधानात् काव्यलिङ्गमलङ्कारः।** किराता० १.१९ मल्लि० इससे रचनाकार भारवि के विशेषणौचित्य की सर्वथा पुष्टि होती है।

विहितां प्रियया मनः प्रियामथ निश्चित्य गिरं गरीयसीम्।।
उपपत्तिमदूर्जिताश्रयं नृपमूचे वचनं वृकोदरः।।

वही, २.१

शत्रुपक्ष की उन्नति तथा स्वपक्ष की शिथिलता जानकर वृकोदर राजा युधिष्ठिर से कुछ कहे इससे पूर्व वह द्रौपदी के कथन की प्रशंसा करते हुए उसके लिए 'प्रियया' विशेषणपद का प्रयोग करता है। वस्तुतः जिस द्रौपदी की मनःप्रियागिरा का श्रवण करते ही भीमसेन आह्लादित हो उठा, उसके लिए 'प्रीणाति आह्लादयति इति 'प्रिया' इस व्युत्पत्ति के अनुसार (प्रसन्न करने वाली) इस अर्थ से युक्त 'प्रिया' पद के अतिरिक्त किसी अन्य विशेषण का यहाँ प्रयोग हो ही नहीं सकता था।

फलतः यहाँ महाकवि ने पदार्थहेतुककाव्यलिंगालंकार से अलंकृत विशेषणपद का समुचित प्रयोग करके अपनी रचनाकारोचित प्रतिभा का प्रसंगानुरूप प्रयोग किया है।

अथ क्षमामेव निरस्तविक्रमश्चिराय पर्येषि सुखस्य साधनम्।
विहाय लक्ष्मीपतिलक्ष्म कार्मुकं जटाधरः सञ्जुहुधीह पावकम्।।

किराता०, १.४४

युधिष्ठिर की उद्योग शून्यता पर अत्यन्त खिन्न हुई द्रौपदी का कथन है कि यदि तुम शान्ति को ही सुख का कारण मानते हो तो राजचिह्न रूप में धारण किये हुए धनुष को फेंक कर जटाधारण कर लो और वन में जाकर अग्नि में हवन करने लगो।

उक्त कथन में कवि का यह अभिप्रेत सुस्पष्ट है कि पराक्रम का त्याग एवं क्षमा का मार्ग अपनाने पर राजचिह्न रूप में धनुर्धारण की आवश्यकता नहीं, जटा-धारण करने की है। इसप्रकार उक्त पद्य में 'कार्मुक' के लिए 'लक्ष्मीपतिलक्ष्म' तथा युधिष्ठिर के लिए 'जटाधरः' विशेषण पदों का प्रयोग वृत्ति के औचित्य को प्रकट कर रहा है।

सम्पश्यतामिति शिवेन वितायमानं लक्ष्मीवतः क्षितिपतेस्तनयस्य वीर्यम्।
अङ्गान्यभिन्नमपि तत्वविदां मुनीनां रोमाञ्चमञ्चिततरं बिभराम्बभूवुः।।

किराता०, १५.५३

प्रस्तुत पद्य में अर्जुन के पराक्रम को देखकर तत्वज्ञानी मुनियों के अंगों में भी रोमांच हो आया- यह प्रतिपादित करना महाकवि का अभीष्ट काव्यार्थ है।

यहाँ 'मुनीनां' विशेष्य पद के लिए 'तत्वविदाम्' गुणवाचक विशेषण प्रयुक्त है क्योंकि अर्जुन भगवान् नारायण के अंशावतार हैं इस तत्व को जानने वाले मुनियों के अंगों में भी जिनको 'हर्षामर्षभयोद्वेगैरमुक्तः' तथा द्वन्द्वैर्विमुक्तासुखदुःख इत्यादि विशेषणों से विशेषित किया गया है। जब महर्षियों में हर्षरोमोद्गम हो सकता है तो सामान्य जनों का तो कहना ही क्या है। अतः अर्जुन का पराक्रम अलौकिक तथा दर्शनीय था। एतावता 'तत्वविदाम्' विशेषण के उचित प्रयोग से काव्यार्थ चमत्कृत हो उठा है।

उपसर्गौचित्य –

उपसर्ग व्याकरणशास्त्र की वह महत्वपूर्ण इकाई है जो काव्यार्थ की यथेच्छ अनुभूति कराती है। किसी भी अर्थ विशेष का उत्कर्ष अथवा अपकर्ष द्योतित करने के लिए उपसर्ग का प्रयोग किया जाता है। किसी भाव विशेष की तीव्र व्यंजना कराने के लिए कवि द्वारा किया गया उपसर्ग का उचित प्रयोग ही औचित्य की कोटि में आयेगा।

महाकवि भारवि के महाकाव्य में उचित उपसर्गों का प्रयोग ध्यातव्य है।

चतसृष्वपि ते विवेकिनी नृप विद्यासु निरूढिमागता।
कथमेत्य मतिर्विपर्ययं करिणी पङ्कमिवावसीदति।।

किराता०, २.६

पंक में फंसी करिणी की भाँति युधिष्ठिर की बुद्धि का सर्वथा विवेक शून्य होकर मृतप्राण हो जाना प्रस्तुत श्लोक का अभिप्रेत काव्यार्थ है। जिसकी पुष्टि के लिए महाकवि ने 'सीदति' क्रिया से पूर्व 'अव्' उपसर्ग का प्रयोग करके भीमसेन के खेद का प्रकर्ष तथा दयनीयता के कारण युधिष्ठिर की मति का अपकर्ष व्यक्त करने में एक चमत्कारी प्रयोग किया है। फलतः अव् उपसर्ग का प्रयोग साभिप्राय है।

अपवर्जितविप्लवे शुचौ हृदयग्राहिणि मङ्गलास्पदे।
विमला तव विस्तरे गिरां मतिरादर्श इवाभिदृश्यते।।

किराता०, २.२६

भीमसेन की वाणी का गुणगान करते हुए युधिष्ठिर का कथन है कि तुम्हारे कथन में तुम्हारी बुद्धि बिल्कुल स्पष्ट दिखाई दे रही है। यहाँ 'दृश्यते' क्रिया से पूर्व 'अभि' उपसर्ग का उचित प्रयोग करके भारवि ने

बुद्धि के पदे पदे दर्शन का सुस्पष्ट भाव अभिव्यक्त करा दिया है। वाणी के विस्तार को (आ समन्तात् दृश्यते यस्मिन् स आदर्शः) आदर्श का रूप देकर महाकवि ने जहाँ दर्पण की सर्वांगनिर्मलता व्यक्त की है वहीं मति को विमल बताकर निर्मल दर्पण में निर्मल बिम्ब के सर्वांग दर्शन का काव्यात्मक चमत्कारी भाव भी अभिव्यक्त कर दिया है। इस प्रकार उक्त श्लोक में 'अभि' उपसर्ग का प्रयोग सर्वथा उचित है।

प्रमार्ष्टुमयशःपङ्कमिच्छेयं छद्मना कृतम्।
वैधव्यतापितारातिवनितालोचनाम्बुभिः।।

किराता०, ११.६७

यहाँ मार्ष्टुम् इस तुमुन्नन्त पद से पूर्व उत्कर्षाधायक 'प्र' उपसर्ग का प्रयोग करके भारवि ने अर्जुन पर लगे अपकीर्ति के कलंक को सर्वथा प्रक्षालित करने का काव्यात्मक भाव बोधित करा दिया है। कलंकशोधन की तीव्रता का भाव यहाँ 'प्र' उपसर्ग के प्रयोग से अधिक चमत्कारी हो उठा है।

विचकर्ष च संहितेषुरुच्चैश्चरणास्कन्दननामिताचलेन्द्रः।
धनुरायतभोगवासुकिज्यावदनग्रन्थिविमुक्तवह्नि शम्भुः।।

किराता०, १३.१८

उपसर्ग प्रयोग के औचित्य की दृष्टि से यहाँ चकर्ष क्रिया से पूर्व 'वि' उपसर्ग बहुत चमत्कारी है। अचलेन्द्र का नीचे की ओर दबना तथा नागराज वासुकि के शरीर का खिंचना आदि क्रियाएँ किरात के धनुष के कर्षण से नहीं अपितु विकर्षण से ही सम्भव हुईं। स्पष्ट है कि इस श्लोक में भारवि ने विशेष बल का प्रयोग करके धनुष के खींचे जाने की क्रिया को दर्शाना चाहा है, जिसके लिए श्लोक के आरम्भ में ही 'विचकर्ष' क्रिया पद का प्रयोग करके और भी रमणीयता आ गई है।

निपातौचित्य -

काव्यभाषा में कुछ ऐसे भी शब्द होते हैं जिनको अव्यय कहा जाता है, इन अव्ययों में जो शब्द अद्रव्यार्थक होते हैं उन्हें निपात कहा जाता है। ऐसे शब्दों में प्रायः च, वै, नूनम्, हन्त तथा खलु आदि अनेक शब्द आते हैं। इनका सब विभक्तियों में, लिंगों में तथा वचनों में एक सा ही स्वरूप रहता है। प्रायः कविगण इनका प्रयोग श्लोक की पाद-पूर्ति के लिए करते हैं किन्तु इनके औचित्य से अभिप्राय है कि रचनाकार जिस स्थान पर इनका प्रयोग कर रहा है वहाँ ये अर्थ की सौन्दर्य-वृद्धि तथा भाव की व्यंजना कर रहे हैं अथवा नहीं।

भारवि के द्वारा उचित निपातों का प्रयोग दर्शनीय है :

क्रियासु युक्तैर्नृप चारचक्षुषा न वञ्चनीयाः प्रभवोऽनुजीविभिः।
अतोऽर्हसि क्षन्तुमसाधु साधु वा हितं मनोहारि च दुर्लभं वचः।।

किराता०, १.४

प्रस्तुत पद्य में कुरुराज दुर्योधन के प्रजा के प्रति व्यवहार को सही-सही जानकर बताने के लिए नियुक्त वनेचर अपनी सत्यनिष्ठता का परिचय देते हुए हुए कह रहा है कि हे राजन्! सच्चे सेवक को अपने स्वामी के समक्ष वंचना का सर्वथा त्याग करते हुए विषय का प्रस्तुतीकरण करना चाहिये। फिर वह विषय चाहे राजा के लिए मनःप्रिय न भी हो क्योंकि हितकारी और मनोहारी बात दुर्लभ ही होती है।

यहाँ समुच्चयार्थक 'च' निपात के उचित प्रयोग से महाकवि ने जहाँ एक उक्ति में असुलभ दो असाधारण गुणों का अभिनन्दन किया है वहीं 'हितं' पद का पूर्व प्रयोग तथा मनोहारी पद का उत्तर प्रयोग करते हुए हितकर वचन की प्रथम-ग्राह्यता को भी अभिव्यक्त किया है। यही कारण है कि वनेचर मनोहरता के अभाव में क्षमायाचना का भी प्रस्ताव कर रहा है।

पुरःसरा धामवतां यशोधनाः सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं निराश्रया हन्त हता मनस्विता।।

किराता०, १.४३

महाकवि भारवि ने यहाँ 'हन्त' निपात के उचित प्रयोग से द्रौपदी के अत्यन्त खेद को प्रकट किया है। तेजस्वियों में अग्रगण्य मानधन युधिष्ठिर जैसे राजा भी यदि शत्रुकृत अपमान को सहन करके सन्तोषी बने रहे तो द्रौपदी ही क्या तेजस्वियों में निवास करने वाली बेचारी मनस्विता भी आश्रयहीन होकर नष्ट हो जायेगी? महाकवि ने उक्त काव्यार्थ की संवेद्य अभिव्यक्त कराने के लिए 'हन्त' निपात का काव्यानुरूप तथा कथ्यानुरूप प्रयोग किया है।

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम्।।

किराता० २.७

'अपि' निपात का प्रयोग यहाँ औचित्य की दृष्टि से सर्वथा अभिनन्दनीय है। भारवि ने युधिष्ठिर के पुरुषार्थ की असाधारणता को व्यंजित करने के लिए 'अपि' निपात के उचित प्रयोग से यह तथ्य सुस्पष्ट कर दिया है कि 'जिन सुरगणों को सु अर्थात् शोभने नित्यानन्दे चिदात्मनि परमात्मनि, राः अर्थात् रमन्ते ये ते सुराः' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सांसारिक विषयों से सर्वथा विरक्ति तथा केवल परमात्मचिन्तन की वृत्ति का प्रतिपादक कहा जाता है, जिनका अपनी या पराई निन्दा-स्तुति से कोई सम्बन्ध नहीं है, उन्होंने भी तुम्हारे जिस पुरुषार्थ की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है उसके नष्ट होने से बढ़कर और कष्ट क्या होगा? फलतः पाठक को काव्यार्थ की तीव्र अभिव्यक्ति कराने में 'अपि' निपात का प्रयोग सर्वथा कथ्यानुरूप है।

भित्तेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः।
विदीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः।।

किराता०, १६.५१

प्रस्तुत पद्य में महाकवि भारवि ने 'विष्वक्' निपात के उचित प्रयोग से अर्जुन द्वारा छोड़े गये अग्निवाण की प्रचण्डता एवं तज्जनित कृशानु की सर्वव्यापिता का प्रभाव प्रदर्शित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है। अधिक स्पष्टता के लिए 'विष्वक्' निपात के उचित प्रयोग से अग्नि के कण-कण में व्याप्त होकर सारे युद्ध क्षेत्र को ग्रास बना लेने का जो ध्वन्यर्थ प्रकट हो रहा है वह 'अभितः', 'परितः' आदि किसी अन्य निपात के प्रयोग से सम्भव ही नहीं था।

कालौचित्य -

व्याकरणिक इकाईगत औचित्य की समीक्षा में काल से हमारा अभिप्राय भूत, भविष्यत् तथा वर्तमानकाल से है। किसी भाव विशेष की व्यंजना अथवा उद्दीप्ति के लिए कवि द्वारा प्रयुक्त काल का उचित प्रयोग कालौचित्य कहलाता है। यहाँ भारवि की कृति किरातार्जुनीय का कालगत औचित्य परखते समय तीनों कालों का निदर्शन इस प्रकार है-

वर्तमानकालौचित्य -

अद्य क्रियाः कामदुघाः क्रतूनां सत्याशिषः सम्प्रति भूमिदेवाः।
आसंसृतेरस्मि जगत्सु जातस्त्वय्यागते यद्बहुमानपात्रम्।।

किराता०, ३.६

प्रस्तुत श्लोक में महर्षि वेदव्यास के अकस्मात् दर्शन से प्रसन्न हुए राजा युधिष्ठिर का कथन है कि 'आज मेरे यज्ञों के अनुष्ठान फलदायक हो गये, भूमिदेवों के आशीर्वचन सत्य हो गये, सृष्टि के आदि से लेकर आज तक संसार में मैं ही सर्वाधिक सम्मान का पात्र हुआ हूँ।

उल्लेखनीय है कि यहाँ 'अथ' सम्प्रति तथा विभक्तिप्रतिरूपक अहं अर्थक 'अस्मि' पद के प्रयोग से जिसमें व्यंजनाशक्ति के द्वारा स्वतः वर्तमानकालिक योग्यता की अभिव्यक्ति हो रही है, रचनाकार ने युधिष्ठिर के कथन को और अधिक रमणीय प्रभावी तथा विनययुक्त बना दिया है। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि 'त्वयि आगते' इस भाव सप्तमी के प्रयोग से 'बहुमानपात्रं जातः' वाक्यांश का निमित्त बनकर दोनों क्रियाओं में जो कार्यकारणभाव की महाकवि ने स्थापना की है वह भी उनकी व्याकरणसम्मत प्रयोगौचिती का प्रत्यक्ष निदर्शन है।

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः।
स्थितिं समीक्ष्योभयथा परीक्षकः करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम्।।

किराता०, १४.२४

प्रस्तुत पद्य में महाकवि भारवि ने 'विगृह्णाति' वर्तमानकालिक क्रिया के साथ 'यशः हतम्', तथा 'करोति मैत्री' के साथ 'दूषिताः गुणाः' भूतकालिक पदों का प्रयोग करके प्रतिपाद्य अर्थ की अव्यवहित फलितार्थता प्रदर्शित की है। निकट भविष्य के कार्य का भूतकालिक 'क्त' प्रत्ययान्त प्रयोगों से प्रदर्शित करना अभिव्यक्ति की तीव्रतरता का द्योतक तो है ही, कवि के विशिष्ट कौशल का परिचायक भी है।

भूतकालौचित्य –

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाधुनाहरन्करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः।।

किराता०, १.३५

शत्रु के अभ्युत्थान का समाचार सुनकर युधिष्ठिर को उत्तेजित करने के लिए धनंजय के भूतकालिक शौर्य तथा वर्तमानकालिक जंगली जीवन का चित्रण करना द्रौपदी के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है।

इस काव्यार्थ के अनुरूप महाकवि ने जहाँ '**उत्तरान्कुरून्विजित्य**' तथा '**प्राज्यम् अकुप्यं वसु अयच्छत्**' वाक्यांशों में भूतकालिक क्रियाओं का प्रयोग करके अर्जुन के पूर्व पराक्रम को प्रकट किया है वहीं 'वल्कवासांसि आहरन्' वाक्यांश में वर्तमानकालिक शतृप्रत्ययान्त प्रयोग के द्वारा उसके वर्तमान दयनीय जंगली जीवन को चित्रित करके मन्यु उत्पादन की भूमिका सशक्त शब्दों में प्रतिबिम्बित कर दी है। यही कारण है कि इस भूमिका में क्रोध न आना, स्वयं प्रश्न का हेतु है तभी तो 'करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः' यह प्रश्नवाचक वाक्य यहाँ रखा गया है।

फलतः काल विशेष के प्रयोग से दशा विशेष का चित्रण करने में महाकवि को यहाँ पूर्ण सफलता मिली है।

भविष्यत्कालौचित्य –

मया मृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाञ्जिघृक्षतः।।

किराता०, १४.२५

उक्त श्लोक में अपने स्वामी किरात का बाण लेने के लिए आये हुए वनेचर के प्रति अर्जुन की ओर से यह कहा गया है कि– "हमने अपने यश व गुण की हानि समझकर ही तुम्हारे स्वामी की सभी आक्षेपयुक्त बातें सहन की हैं, किन्तु यदि इसके पश्चात् भी वह बाण लेने के लिए आना चाहेगा तो दृष्टिविष नामक सर्प से मणिग्रहण करने वाले की जो गति होती है वही उसकी भी होगी।"

इस प्रसंग में महाकवि द्वारा प्रयुक्त 'अथ शरार्थम् एष्यति तर्हि दृष्टि–विषात् शिरोमणिं जिघृक्षतः गतिं लप्स्यते' इत्यादि भविष्यत्कालिक पदों के उचित प्रयोग से अर्जुन की दृढ़संकल्प निष्ठता तथा असाधारण पराक्रम प्रकट हो रहा है। इसी श्लोक के भविष्यत्कालिक इन दोनों प्रयोगों से

महाकवि की इस गुरुगम्भीर गूढदृष्टि का भी आभास मिलता है 'क्योंकि मृगों का हन्ता कोई सामान्य पुरुष नहीं है इसलिये इस पद्य से अव्यवहित पूर्व 'यदा विगृह्णातिहतं तदा यशः' इत्यादि श्लोक में निर्दिष्ट कार्यकारणभाव की भाँति यहाँ शरार्थ आगमन के फलस्वरूप दुर्गति की प्राप्ति ध्रुव न होकर भविष्यत्काल के गर्भ में निहित है जो भविष्य अपने में स्वयं अनिश्चित है। प्रसिद्ध वैयाकरण भट्टोजिदीक्षित ने 'लृट् शेषे च' (अष्टा० ३.३.१३) सूत्र की वृत्ति में लिखा है "भविष्यदर्थात् धातोर्लट् स्यात् क्रियार्थायाम् क्रियायाम् असत्यां सत्यां च" (भट्टोजिदीक्षितः सिद्धान्तकौमुदी, भ्वादयः पृष्ठ ३४०)। जिससे स्पष्ट है कि भविष्यत् काल के प्रयोगों में कार्य कारण भाव की स्थापना निश्चयपूर्वक नहीं कही जा सकती।

निष्कर्ष :

भाषागत पद प्रयोगात्मक इकाई के अंगरूप में प्रकृतिप्रत्ययादि अंगों के औचित्य का परीक्षण करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अर्थगौरव को कदापि अस्वीकृत न करने वाले मनीषी महाकवि भारवि ने अपनी वाणी की पृथगर्थता, सामर्थ्य का अनपोहन एवं पदों का स्फुटभाव बनाए रखने के लिए उचित क्रियाओं, कारकों, लिंगों, वचनों एवं उपसर्गों व निपातादि पदावयवों का समुचित व सटीक प्रयोग करके अपनी कलात्मक अभिरुचि का परिचय दिया है। हमारे इस विमर्श ने शास्त्रीय पाण्डित्य के पक्षपाती विपश्चितवैयाकरणों के लिए तो अपेक्षित सामग्री प्रस्तुत की ही है, व्याकरणिक शैली में कृतिकार की कृति का समीक्षण करने का अभिनव मार्ग भी खोल दिया है।

पञ्चम् विमर्श पूर्ण

षष्ठ विमर्श

लोकाचारगत औचित्य

महाकाव्यगत औचित्य के मानदण्डों में लोकाचारगत औचित्य का अपना विशेष स्थान है। आचार्य मम्मट ने काव्य के प्रयोजनों में 'व्यवहारविदे'

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

मम्मट, का० प्र०, १.२

लिखकर जिस व्यवहार ज्ञान का निर्देश किया है उसकी पृष्ठभूमि यही लोकाचार है। इसका औचित्य निर्वाह निश्चय ही काव्यौचित्य का उल्लेखनीय निकष है। आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा निर्दिष्ट औचित्य के सत्ताईस उपादानों में से हम निम्नलिखित उपादानों की लोकाचारगत औचित्य के अन्तर्गत मीमांसा करेंगे– कालौचित्य, देशौचित्य, कुलौचित्य, व्रतौचित्य, तत्वौचित्य, सत्वौचित्य, सारसंग्रहौचित्य, अवस्थौचित्य तथा आशीर्वादौचित्य।

महाकवि भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य में उपर्युक्त औचित्य प्रभेदों की मीमांसा करने से पूर्व यह स्पष्ट जान लेना चाहिये कि हमारा यह कृतिकार भारत के ऐसे युग का प्रतिनिधि है जिसका लोकजीवन सामन्ती राजनीतिक ढांचे तथा वर्णव्यवस्थामूलक वर्गसम्बन्धों तथा आचारमर्यादाओं से अनुशासित था। कुल, व्रत तथा सत्वादि अभिजातीय सामाजिक मूल्य के रूप में प्रतिबिम्बित थे। अतः भारवि प्रणीत किरातार्जुनीय महाकाव्य में इन तत्वों के प्रयोग से होने वाली काव्यगत उत्कर्षधर्मिता उन्हीं युगीन परस्थितियों एवं मूल्यों से जुड़कर ही अनुभव की जा सकती है।

इसी परिप्रेक्ष्य में लोकाचारगत औचित्य के क्षेमेन्द्र द्वारा निरूपित नौ

प्रभेदों की भारवि की कृति में समीक्षा करना उचित होगा।

कालौचित्य :-

भारवि की कृति में कालगत औचित्य को मुख्यतः दो रूपों में देखा जा सकता है:

(अ) ऋतुवर्णनरूप कालौचित्य

(आ) क्षणविशेषगत कालौचित्य

ऋतुवर्णनरूप कालौचित्य :-

महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य किरातार्जुनीय के चतुर्थ सर्ग में जिस ऋतुवर्णनरूप से शरत्काल का वर्णन किया है उसका औचित्य भारतीय लोकमानस पर अंकित ऋतुप्रभावों के प्रकाश में ही समझा जा सकता है। भारतीय जलवायु के लोकजीवन के सभी साहसिक अभियान एवं मांगलिक उत्सवों का समारम्भ प्रायः निरभ्र आकाश के आगमन से ही होता है। भारतीय मानसिकता के अनुरूप ही महाकवि ने अपने महाकाव्य के नायक अर्जुन की साहसमयी साधना यात्रा का अभिनन्दन लोकजीवन को आप्लावित करती हुई शरद् के वर्णन से किया है। एतदर्थ रचनाकार ने शरद्ऋतु के अनुरूप नदियों के बालुकामयतटों का, पंकविहीन मार्गों का, आकाश की शोभा का, धान के पाण्डुरंग का तथा उड़ती हुई शुकावलि का काव्यानुरूप वर्णन किया है। किरातार्जुनीय के शरद्वर्णन को महाकाव्य में ऋतुवर्णन की तथाकथित परिपाटी का निर्वाह समझना भूल होगी। वास्तविकता तो यह है कि यह शरद्ऋतु महाकाव्य के नायक अर्जुन के भावी अभ्युदय की मानसिकता पृष्ठभूमि बनाने में सहायक होती है। स्मरण रहे कि महाकवि ने शरत्काल की इस सुषमा के फलस्वरूप नायक अर्जुन के मन की प्रसन्नता, उत्सुकता तथा उत्साहसम्पन्नता आदि आह्लादक मनःस्थियों का प्रकृति के आह्लाद में सृजन किया है। यही नहीं

यह शरद्-वर्णन पाठक की मनोभूमि से तादात्म्य भी बनाता है अर्थात् साधारणीकरण करता है। अतः महाकाव्य की दृष्टि से इस शरद्वर्णन का असाधारण कलात्मक औचित्य है। नायक की साहसिक यात्रा के मांगालिक क्षणों की अनुगूंज तृतीयसर्ग के अन्तिम श्लोक से ही आरम्भ हो जाती है।

अनुजगुरथ दिव्यं दुन्दुभिध्वानमाशाः
सुरकुसुमनिपातैर्व्योम्नि लक्ष्मीर्वितेने।
प्रियमिव कथयिष्यन्नालिलिङ्गस्फुरन्तीं
भुवमनिभृतवेलावीचिबाहुः पयोधिः।।

किराता०, ३.६०

महाकाव्य नायक अर्जुन की साहसिक साधना-यात्रा पर प्रस्थित होते ही दिशाओं ने कर दिया मांगलिक दुन्दुभिनाद, आकाश में छा गई दिव्यकुसुमों की शोभा, प्रिय सन्देश सा कहते सागर ने वीचिबाहुओं में लपेट लिया प्रिया पृथ्वी को।

यह है हमारे कृतिकार द्वारा प्रस्तुत शरद् की मांगलिक अनुगूंज, जिसमें प्रतिपद ध्वनित हो रहा है नायक के भावी प्रिय का सन्देश। शरद् आगमन से नायक को मिलने वाली मानसिक प्रियता सन्तोष एवं आह्लाद की ही अभिव्यक्ति कर रहे हैं भारवि के निम्नलिखित श्लोक :

ततः स कूजत्कलहंसमेखलां सपाकसस्याहितपाण्डुतागुणाम्।
उपाससादोपजनं जनप्रियः प्रियामिवासादितयौवनां भुवम्।।

किराता०, ४.१

लोकप्रिय अर्जुन उस पृथ्वी के समीप पहुँच गये जो मधुर निनाद करती हुई मेखला की भाँति राजहंसों तथा परिपक्व अन्नों के पीतरंग से अलंकृत थी। कृतिकार ने ऐसी सौन्दर्यसम्पन्न पृथ्वी की उपमा युवति से देकर नायक की प्रसन्नता आरम्भिक क्षणों से ही व्यक्त की है।

तुतोष पश्यन्कलमस्य सोऽधिकं सवारिजे वारिणि रामणीयकम्।
सुदुर्लभे नार्हति कोऽभिनन्दितुं प्रकर्षलक्ष्मीमनुरूपसङ्गमे।।

किराता०, ४.४

अर्थात् शरद् में विकसते कमलों से युक्त जलों में थिरकती शालिपादपों की रमणीयता को निहार, नायक अर्जुन को मानसिक प्रसन्नता मिली। प्रकृति के अनुरूप उपादानों के सुदुर्लभ संगम से उत्पन्न प्रकर्ष शोभा का कौन अभिनन्दन नहीं करता? अर्थान्तरन्यास के माध्यम से उक्त मनोहारी शोभा को सभी के द्वारा अभिनन्दनीय कहकर महाकवि ने अर्थ को और अधिक चारुता प्रदान कर दी है।

कृतोर्मिरेखंशिथिलत्वमायता शनैः शनैः शान्तरयेण वारिणा।
निरीक्ष्य रेमे स समुद्रयोषितां तरङ्गितक्षौमविपाण्डुसैकतम्।।

किराता०, ४.६

प्रस्तुत पद्य में शान्तवेग वाले जल से निर्मित लहरों की रेखाओं से सुशोभित नदियों की उपमा स्त्री की उस साड़ी से की गई है जिसमें चुन्नट पड़ी हुई हैं। कविकौशल प्रकट करने वाले उक्त श्लोक में शरद्कालीन नदी का मनोरम वर्णन है। ऐसी नदियों के बालुकामय तटों को देखकर भारवि का नायक फूला नहीं समाता।

पतन्ति नास्मिन्विशदाः पतत्रिणो धृतेन्द्रचापा न पयोदपङ्क्तयः।
तथापि पुष्णाति नभः श्रियं परां न रम्यमाहार्यमपेक्षते गुणम्।।

किराता०, ४.२३

इस पद्य में भारवि ने शरत्काल के जिस निरभ्र आकाश का मनोहारी वर्णन किया है, वह अर्जुन के भावी अभ्युदय की भरपूर मात्रा में भूमिका निभाता है। श्वेत पक्षियों के न रहने पर भी, इन्द्रधनुषयुक्त पयोदों की पंक्तियों के उड़ने पर भी आकाश की शोभा अद्भुत ही थी। महाकवि का

ऐसा कलात्मक वर्णन शरद्काल की शोभा का पर्याप्त अनुभव कराता है।

अमी पृथुस्तम्बभृतः पिशङ्गतां गता विपाकेन फलस्य शालयः।
विकासि वप्राम्भसि गन्धसूचितं नमन्ति निघ्रातुमिवासितोत्पलम्।।

किराता०, ४.२६

सुनहरे रंग वाले धान के पौधे जलपूर्ण क्षेत्रों में विकसित नीलकमलों को सूंघने के लिए मानों नीचे की ओर झुके हुए हैं। उत्प्रेक्षा के इस चारुतर प्रयोग द्वारा महाकवि ने एक ओर प्रकृति में थिरकते भावस्पन्दन को अभिव्यक्ति प्रदान की है तो दूसरी ओर अतिभव्य एवं मनोग्राही चाक्षुष्बिम्ब भी सफलता से रूपायित किया है। फलतः उक्त वर्णन से काव्यार्थ को पर्याप्त उत्कर्ष मिला है।

मुखैरसौ विद्रुमभङ्गलोहितैः शिखाः पिशङ्गीः कलमस्य बिभ्रती।
शुकावलिर्व्यक्तशिरीषकोमला धनुःश्रियं गोत्रमिदोऽनुगच्छति।।

किराता०, ४.३६

अभ्युदयकारी साहसिक साधना के मुख्यस्थल से नायक की हिमाद्रि प्रदेश की सीमाएं छूने से भारत के समतल भूभाग की यात्रा के दौरान कवि ने शरद्ऋतु के जो उत्साहवर्धक एवं मनोहारी चित्र खींचे हैं उनकी शृंखला में यह अन्तिम चित्र है। इस भावबिम्ब को चित्रित करते हुए महाकवि ने अपनी असाधारण काव्यचातुरी से 'गोत्रभिद्धनुः श्रियम्' के माध्यम से अन्तिम प्रभाव को वस्तुतः 'इन्द्र' की ओर केन्द्रित कर दिया है जिसकी प्रसन्नता महर्षि वेदव्यास के निर्देशानुसार हमारे महाकाव्य के नायक जिष्णु का अभीष्ट है।

शरत्काल के ये ऋतुचित्र अपना लोकाचारगत औचित्य इस रूप में प्रदर्शित करते हैं कि भारतीय लोकमानस की भावमयी प्रतिक्रिया किस

ऋतुचित्र के साथ किस रूप में जुड़ी है। शरद् का निरभ्रआकाश, विकसते कमलवन, लहलहाते शस्यसम्पन्नक्षेत्र, चहकते पक्षीगण, सभी कुछ एक अभ्युदयमयी भावभूमि तैयार करते हैं इसके विपरीत यदि योरोप महाद्वीप के ऋतुवैशिष्टय की दृष्टि से देखें तो नायक के भावी अभ्युदय की पृष्ठभूमि में शरद् के स्थान पर ग्रीष्म अथवा वसन्तवर्णन अधिक उचित होता क्योंकि शीतकाल की जड़ता के वातावरण से निकलकर लक्ष्योन्मुख नायक के लिए ग्रीष्मऋतु ही तो सर्वथा अनुरूप बैठती है।

अभ्युदयकारी इस साधना की पृष्ठभूमि में यदि कोरे ऋतुसौन्दर्य के रूप में भारवि यहाँ वसन्त का वर्णन कर देते तो भी अनुचित होता, कारण कि ओजस्वी नायक की उत्कर्षसाधना से पूर्व वसन्त के मादकचित्र भटकाव की भूमि ही निभाते। अतः कितने ही सुन्दर रूप में चित्रित होते हुए भी वे असुन्दर ही हो जाते।

महाकाव्य की प्रवृत्ति के अनुरूप ऋतुओं के यथाकालिक सौन्दर्यचित्रों को प्रस्तुत करने का स्वाभाविक अवसर तो भारवि का कथाप्रबन्ध प्रदान करता दिखाई नहीं देता। यह सब होते हुए भी कवि ने काव्य के नायक अर्जुन की तपःसाधना में प्रतिबन्धक रूप से उपस्थित हुई अप्सराओं तथा गन्धर्वों के संगीत वैभव के द्वारा एक साथ ही षड्ऋतुओं को उपस्थित कर डाला है। विविध ऋतुकालों के उद्दीपन चित्रों के इस वर्णन द्वारा महाकवि अपने काव्यनायक की चारित्रिक उदात्तता अभिव्यक्त करने के लिए जहाँ एक ओर अप्सराओं के प्रभाव से उत्पन्न छहों ऋतुओं की उद्दीपन सामग्री का वर्णन करके अपने नायक के सच्चारित्र्यसम्पन्न व्यक्तित्व को बिम्बित करना चाहता है वहीं दूसरी ओर महाकाव्य की प्रवृत्ति के अनुरूप विविधऋतुओं के वर्णन द्वारा प्राकृतिक सौन्दर्य के विविध चित्रों को प्रस्तुत करने का काव्यकौशल भी चित्रित करना चाहता है। इस प्रसंग में अविकलविपुल उद्दीपन सामग्री की उपस्थिति में भी अपने काव्यनायक

को अविचल रूप में प्रदर्शित करना भारवि के सविशेषकौशल का परिचायक है। यही कारण है कि महाकवि की इस कलात्मक योजना से पाठक की मानसिकता अपने दैशिक और कालिक आयामों से उठकर महाकवि की मानसिकता के साथ एकाकार हो जाती है तथा उसका काव्यनायक एक अद्वितीय व्यक्तित्व के साथ पाठक के मन पर छा जाता है।

सुन्दर कलात्मक शैली में प्रयुक्त वर्षाऋतु के कतिपय उद्दीपन चित्र द्रष्टव्य हैं :

सजलजलधरं नभो विरेजे विवृतिमियाय रुचिस्तडिल्लतानाम्।
व्यवहितरतिविग्रहैर्वितेने जलगुरुभिः स्तनितैर्दिगन्तरेषु।।

किराता०, १०.१९

यहाँ सजल जलधरों से आकाश का सुशोभित होना, विद्युत की कौंध का स्पष्टतः दिखाई देना तथा दम्पतियों के रतिविग्रह को शान्त करने वाले नीरगम्भीर गर्जनों से दिगन्तरों का गूंज उठना इत्यादि भावचित्रों का महाकवि ने काम के उद्दीपन सामग्री के रूप में वर्णन किया है। वर्षा ऋतु का चाक्षुष बिम्ब उभारने वाली भारवि की इस चित्र योजना से पाठक को एक अनोखा कलात्मक सन्तोष भी प्राप्त होता है। वर्षाऋतु के इसी वर्णनक्रम में महाकवि भारवि, अर्जुन के आश्रम के चारों ओर मालती की कलियों के विकास एवं धीरे धीरे बरसने वाली जल की बूँदों से धरा के धूलिभार के शमन का वर्णन करके निम्न श्लोक में सम्पूर्ण जीवलोक पर व्यापक प्रभाव प्रदर्शित करना चाहते हैं :

प्रतिदिशमभिगच्छताभिमृष्टः ककुभविकाससुगन्धिनानिलेन।
नव इव विबभौ सचित्तजन्मा गतधृतिराकुलितश्च जीवलोकः।।

किराता०, १०.२१

प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन नामक वृक्षों के विकसित कुसुमों की गन्ध वाले अनिल का सम्पर्क पाते ही सभी प्राणी मानों काम के अनल से आकुलित होकर अपूर्व अवस्था का अनुभव करने लगते हैं। उद्दीपन सामग्री का यह व्यापक प्रभाव सामान्य जीवलोक को तो 'गतधृति' कर सकता है परन्तु भारवि का नायक प्रभविष्णु जिष्णु तो इस प्रभाव से सर्वथा असंस्पृष्ट ही रहता है और अपनी अविचलता बनाये रखता है। यही तो इस वर्णन का प्रसंगगत औचित्य है। वर्षाकाल के वर्णन के उपसंहार-श्लोक द्वारा हमारी इस औचित्य दृष्टि की स्वतः पुष्टि हो जाती है :

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः।।

किराता०, १०.२३

यहाँ कदम्ब की सुगन्धित वायु तथा शिखण्डियों के मदमधुनिनाद का प्रभाव सामान्य जन पर ही वर्णित हुआ है, जिष्णु के अवचल धैर्य पर नहीं। यही कारण है कि अर्थान्तरन्यास के माध्यम से कवि ने समाधिनिष्ठ अर्जुन की महत्ता का 'नहि महतां सुकरः समाधिभङ्गः' इन शब्दों में सहज ही में समर्थन कर दिया है।

इस प्रकार वर्षाकाल की उद्दीपन सामग्री का उचित वर्णन करके कवि ने ऋतुकालरूप कालौचित्य का सटीक उदाहरण अपनी कृति में प्रस्तुत किया है।

शरद्ऋतु की गुणगरिमामयी श्री तथा हेमन्त ऋतु के वर्णन सर्वत्र उत्कण्ठोत्पादक व हर्षवर्धक हैं, किन्तु पाण्डुपुत्र अर्जुन पर किसी भी प्रकार का विकार-प्रभाव प्रदर्शित न करने वाले वर्णन के उपरान्त कवि ने स्मरैकबन्धु शिशिर ऋतु का केवल एक श्लोक में शिशिर शैली में ही वर्णन किया है-

कतिपयसहकारपुष्परम्यस्तनुतुहिनोऽल्पविनिद्रसिन्दुवारः ।
सुरभिमुखहिमागमान्तशंसी समुपययौ शिशिरः स्मरैकबन्धुः।।

किराता०, १०.३०

तदुपरान्त समस्त जगत् पर अपना व्यापक प्रभाव छोड़ने वाली पंचशर की सहयोगिनी वसन्तश्री का पांचश्लोकों में प्रभावी चित्र उपस्थित किया है। अशोकपल्लवों की कोमल शय्या पर बैठे हुए तथा कुरबकवृक्षों की पंक्तिरूपिणी वधू को निहारते हुए कामदेव के दर्शन के उपरान्त महाकवि ने व्यापक प्रभाव के रूप में निम्नलिखित श्लोक में भ्रमर के द्वारा शाललतावधू के चुम्बन का चित्र प्रस्तुत किया है :

श्वसनचलितपल्लवाधरोष्ठे नवनिहितेर्ष्यमिवावधूनयन्ती।
मधुसुरभिणि षट्पदेन पुष्पे मुख इव शाललतावधूश्चुचुम्बे।।

वही, १०.३४

प्राकृतिक जगत् में दाम्पत्यजीवन की अवधारणा करते हुए महाकवि भारवि ने षट्पद के माध्यम से प्रेमी पात्र का अपनी प्रेयसी की ओर वसन्तसुलभ आकर्षण यहाँ प्रदर्शित किया है। शाललतावधू का अपने प्रेमी के प्रथम मिलन के क्षणों में कृत्रिम कोप व कोप के फलस्वरूप मुख का इधर-उधर अवधूनन और प्रेमी षट्पद का फिर भी मधुसुरभि पुष्पमुख का हठात् चुम्बन किस जन के हृदय में विलास को जन्म नहीं देगा?

सम्पूर्ण भुवन पर विजय की पताका फहराने वाले मादक वसन्त काल का भारवि के नायक इन्द्रियजयी अर्जुन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

इस तथ्य का प्रतिपादन कवि ने अग्रिम श्लोक में किया है :

प्रभवति न तदा परो विजेतुं भवति जितेन्द्रियता यदात्मरक्षा।
अवजितभुवनस्तथा हि लेभे सिततुरगे विजयं न पुष्पमासः।।

किराता०, १०.३५

वस्तुतः शत्रु की विजय उस व्यक्ति पर सम्भव नहीं है जो जितेन्द्रियता के कारण अपनी रक्षा करने में समर्थ है। यही कारण है कि विषयों के कल्मष से इन्द्रियों को सर्वथा असंस्पृष्ट रखने वाले सिततुरग (अर्जुन) को पराजित करने में वसन्त सफल नहीं हो पाया।

इस प्रकार कालौचित्य की दृष्टि से वसन्तकाल के स्वरूप प्रभाव का चित्रण करके महाकवि ने अपने काव्यनायक को अपराजेय सिद्ध करके उसकी चारित्रिक उदात्तता सिद्ध कर दी है।

छहों ऋतुओं की प्रभाविनी उद्दीपन सामग्री के प्रस्तुतिकरण से कवि यह प्रदर्शित करना चाहता है कि सम्पूर्ण भुवन को पराभूत करने वाला सम्पूर्ण ऋतुगण क्षणभर के लिये भी अर्जुन को उन्मना न बना सका। संक्षेप में भारवि की कृति में ऋतुकाल के वर्णन का यही औचित्य है।

क्षणविशेषगत कालौचित्य

कालगत औचित्य की दृष्टि से कृतिकार द्वारा अपने कथानक के घटनाचक्र के एक विशेष बिन्दु पर क्षण अर्थात् अवसर की अपेक्षा को ध्यान में रखते हुए किया गया अनुरूप वस्तु-संयोजन एक अतिरिक्त कलात्मक महत्व रखता है। इस दृष्टि से किरातार्जुनीय महाकाव्य में महाकाव्य के कथानक का गतिरोध दूर करने के लिए 'पराशरात्मज' वेदव्यास का अवतरण नितान्त अपेक्षित एवं औचित्यपूर्ण प्रयत्न है। प्रथमसर्ग के अन्तर्गत वनेचर द्वारा प्राप्त शत्रुपक्ष की शासन चलाने की पद्धति का विवरण, राजमहिषी द्रौपदी तथा अनुजों की सन्निधि में सत्ताच्युत युधिष्ठिर द्वारा उसकी चर्चा, अपमानिता द्रौपदी की प्रतिशोध भावनाओं से उद्वेलित प्रतिक्रिया तथा द्वितीय सर्ग में वृकोदर भीम द्वारा द्रौपदी का समर्थन करते हुए शत्रु के प्रति आक्रामक कदम बढ़ाने की नीति पर बल एवं युधिष्ठिर द्वारा नीति के नैतिक और न्याय्य पक्ष के समर्थन द्वारा भीम का अनुशासन कर चुकने पर महाकाव्य का कथानक एक प्रकार से

गतिरोध बिन्दु पर आ पहुँचा लगता है। गतिरोध का यह क्षण कृतिकार से घटनाचक्र में किसी नये आयाम को खोलने की अपेक्षा करता है। जहाँ तक उपस्थित पात्रों की सहायता से कथानक को बढ़ाने का प्रश्न है, कलात्मक दृष्टि से उनकी भूमिका कोई सम्भव नहीं दिखाई देती। दो विरोधी ध्रुवों पर खड़ी द्रौपदी व भीम की राजनीति तथा युधिष्ठिर की राजनीति के बीच गतिरोध को समाप्त करने के लिए अर्जुन तथा छोटे नकुल और सहदेव कोई निर्णायक भूमिका नहीं निभा सकते। कनीयान् होने के कारण उन्हें वह भूमिका देना उचित भी नहीं ठहरता। अर्जुन के साथ तो एक अतिरिक्त कठिनाई यह भी है कि कवि अपनी योजना के अनुसार उसे आगे के घटनाचक्र का नायक बनाना चाहता है, अतः नीति विवाद में उसका उलझना घातक ही हो जाता। यही कारण है कि भारवि ने युधिष्ठिर की पारिवारिक संसद के तीन सदस्यों अर्जुन, नकुल, सहदेव को मूक बनाए रखने में सम्भवतः उतना अनौचित्य न समझा जितना उन्हें मुखरित करने में।

कथानक के इस गतिरोध क्षण में भारवि ने दिव्य तथा अदिव्य तत्वों से निर्मित एक चमत्कारी व्यक्तित्व को अवतरित कर दिया है। वह व्यक्तित्व है– पराशरात्मज वेदव्यास। वास्तव में यह घटनाक्रम का वह महत्वपूर्ण क्षण है जो भारवि के महाकाव्य की पूरी की पूरी भावी दिशा निर्धारित करता है। अतः क्षण की अपेक्षा के अनुरूप हमारा यह महाकवि एक घटना के रूप में महर्षि वेदव्यास को प्रस्तुत करता है। तात्कालिक कलाअभिरुचि की दृष्टि से यह प्रयोग अत्यन्त उचित एवं उपादेय कहा जा सकता है। अपनी कृति के घटनाचक्र को एक नया आयाम देने के लिए भारवि ने बहुत ही उचित क्षण को पकड़ा है।

महर्षि वेदव्यास के अवतरण के इस क्षणविशेष को भारवि ने इन शब्दों में बाँधा है :

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः।।

किराता०, २.५४

शत्रु द्वारा किये गये अपमान को स्मरण कर आकुल होने वाले अर्जुनाग्रज भीमसेन को अनाकुल भाव से शत्रु की उपेक्षा का नीतिमार्ग बताने वाले युधिष्ठिर को निश्चित ही इस क्षण में किसी ऐसे पात्र की उपस्थिति अपेक्षित थी, जिसकी आप्तता, प्रभाव विश्वसनीयता तथा अपने पक्ष के प्रति हितभावना सर्वथा असंदिग्ध हो। साथ ही जिसका मार्गदर्शन वीर्य व अस्त्रबल में बढ़े चढ़े शत्रु को परास्त करने के लिए विक्रम का मार्ग प्रशस्त करने वाला हो। विषयाभिलाषी धृतराष्ट्र के पक्षपात पूर्ण दुर्व्यव्हार से असन्तुष्ट युधिष्ठिर के उत्तम गुणों से आकृष्ट हृदय वाले तथा दर्शन मात्र से पापनिरास व श्रीविकास करने वाले देवगुरुतुल्य महर्षि द्वैपायन का नीतिनिर्णय तथा गतिरोध के इस क्षण में अभिवांछित मनोरथ के रूप में उपस्थितिकरण निश्चय ही कृतिकार के कलात्मक कौशल का प्रतीक है।

युधिष्ठिर तथा वेदव्यास के मध्य शिष्टाचार–वार्ता समाप्त होते न होते महर्षि वेदव्यास का निम्नलिखित कथन गतिरोध की स्थिति में एक रोमांचक स्पन्दन आरम्भ कर देता है :

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।।

किराता०, ३.१७

महर्षि की इस उक्ति में 'प्रकर्ष' नीति निर्णायक तत्व है तथा 'प्रकर्षाय विधिर्विधेयः' गतिरोध भंग करने वाला विधिवाक्य है। महाकवि ने गतिरोध के इस क्षण में वेदव्यास द्वारा दो विरोधी नीतियों में सन्तुलन स्थापित करने की आवश्यकता पूरी की है और इससे भी बढ़कर गतिरोध को तोड़ भावी

घटना की दिशा भी प्रस्तुत कर दी है। भावी घटनाचक्र की यह दिशा अर्जुन के लिए निर्दिश्यमान अभ्युदयसाधना के रूप में अनुपद ही उन्मीलित होने लगती है। सुयोधन के पक्षधर भीष्म आदि के लोकोत्तर शौर्य का उल्लेख करते हुए महर्षि व्यास के शब्दों में कृतिकार ने इस साधना को एक रहस्यविधा के रूप में प्रस्तुत किया है :

ययाऽसमासादितसाधनेन सुदुश्चरामाचरता तपस्याम्।
एते दुरापं समवाप्य वीर्यमुन्मूलितारः कपिकेतनेन।।
महत्वयोगाय महामहिम्नामाराधनीं तां नृप देवतानाम्।
दातुं प्रदानोचित भूरिधाम्नीमुपागतः सिद्धिमिवास्मि विद्याम्।।

किराता०, ३.२२, २३

बस अब क्या है? कृतिकार ने पूरी काव्यचातुरी के साथ गतिरोध को भंग कर डाला और घटनाचक्र ने एक नवीन दिशा, एक नवीन प्रवाह तथा अलौकिक एवं रहस्यपूर्ण संस्पर्शों से युक्त एक नूतन जीवन शक्ति ही प्राप्त कर ली। दिशा की नवीनता इस तथ्य में निहित है कि घटना ने पक्षविपक्ष की राजनीति के तर्कों से हटकर भाववादी काव्यकला के अनुरूप रोमांटिक (कल्पनावादी) प्रस्थान आरम्भ कर दिया। लौकिक धरातल से जुड़े रहकर भी अलौकिक दिव्यशक्तियों से जुड़ने में यह रहस्यपूर्ण प्रवृत्ति गोचर होती है। नूतन जीवनशक्ति और प्रवाह इस रूप में देखा जा सकता है कि अब कवि-कल्पना की प्रशस्ततर दिशा खुल जाती है। घटनाचक्र की यह गतिशीलता तथा रहस्यधर्मिता तृतीयसर्ग के श्लोक २४ से ३० तक सात श्लोकों में सहज देखी जा सकती है। महामहिमशाली देवताओं की आराधनी अभ्युदयसाधना को कपिकेतन अर्जुन के लिए प्रदान करने को तत्पर महर्षि की भावना, अर्जुन के लिए विद्याप्राप्ति हेतु युधिष्ठिर का त्वरित आदेश, अर्जुन को विद्याप्राप्ति तथा उस रहस्यविद्या के द्वारा इन्द्र की प्रसन्नता सिद्धि के लिए उचित तपःस्थली तक पहुँचाने हेतु सहायक

यक्ष का महर्षिकृपा से अवतरण– ये सब कुछ बड़ी तीव्रता से घटित होता है।

इतना होते ही कृतिकार अर्जुन की अभ्युदय सिद्धि–यात्रा के मुख्य कथानक से आ जुड़ता है और सम्भवतः अब उसे किसी गतिरोध का भय नहीं रह जाता।

क्षणविशेषगतकालौचित्य का द्वितीय उदाहरण हमें भारवि के नवम सर्ग के प्रारम्भ में किये गये सूर्यास्त वर्णन में दृष्टिगत होता है :

वीक्ष्य रन्तुमनसः सुरनारीरात्तचित्रपरिधानविभूषाः।
तत्प्रियार्थमिव यातुमथास्तं भानुमानुपपयोधि ललम्बे।।

किराता०, ९.१

प्रस्तुत श्लोक में भानु जब देवांगनाओं को जलक्रीड़ा के उपरान्त विभिन्न वस्त्रों से विभूषित होकर रमण के लिए उत्सुक देखता है तो उनका प्रिय करने के लिए वह उनके सामने से हट जाने के लिए समुद्र की ओर चल देता है। वस्तुतः पुंस्त्वविशिष्ट भास्कर का रमणोत्सुक सुरनारियों के लिए अनुकूलता प्रदान करना जहाँ औचित्य की सीमा के अन्तर्गत ग्राह्य है वहीं प्रकाश की अनुपस्थिति में ताप की न्यूनता व तम की बहुलता के कारण शृंगार के अनुरूप उद्दीपन सामग्री के उचित संयोजन का प्रयास भी यहाँ दृष्टिगत होता है। इसी प्रसंग में कुंकुमताम्र रविकिरणों का झरोखों से देवांगनाओं के समीप पहुंचकर दूती की भाँति प्रियसमागम की सूचना देना तथा अभिसार के अनुरूप प्रसाधनों को धारण करने की तीव्रता का संकेत देना कवि के काव्यकौशल का प्रत्यक्ष परिचायक है :

कान्तदूत्य इव कुङ्कुमताम्राः सायमण्डलमभित्वरयन्त्यः।
सादरं ददृशिरे वनिताभिः सौधजालपतिता रविभासः।।

किराता०, ९.६

प्रस्तुत श्लोक में देववनिताएँ कान्तमिलन की सूचना देने वाली प्रियदूती की भाँति उन्हें बड़े सम्मान के साथ देखती हैं। उद्दीपन सामग्री के संयोजन के इन क्षणों में किरणों का दूतीरूप में वर्णन निश्चय ही क्षणविशेष-गतकालौचित्य का समुचित निदर्शन है।

क्षणविशेषगतकालौचित्य के उपर्युक्त उदाहरणों की मीमांसा करते समय भारवि के इस सन्ध्या काल के वर्णन में कहीं कहीं प्रसंगप्रतिकूलता भी दृष्टिगत होती है, दूसरे शब्दों में कहें तो कवि कालवर्णन के औचित्य निर्वाह में चूक गया है :

गम्यतामुपगते नयनानां लोहितायति सहस्त्रमरीचौ।
आससाद विरहय्य धरित्रीं चक्रवाकहृदयान्यभितापः।।

किराता०, ९.४

सहस्त्रमरीचि के अभिताप का धरिणी को छोड़कर चक्रवाक मिथुन के हृदय में प्रवेश का उल्लेख सम्भोग श्रृंगार के वर्णन क्षणों में विप्रलम्भ का चित्र प्रस्तुत कर देता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह विरोधी भावचित्र है तथा अनुचित है।

इस श्लोक में सूर्य के अभाव में पाण्डुरंग वाला दिवसावसान दिन-मुख की समानता करके मानों रति के प्रतिकूल क्षणों की स्थिति ला देता है :

आकुलश्चलपतत्रिकुलानामारवैरनुदितौषसरागः ।
आययावहरिदश्वविपाण्डुस्तुल्यतां दिनमुखेन दिनान्तः।।

किराता०, ९.८

यहाँ चक्रवाक पक्षियों का अपनी वधुओं से अभेद चाहते हुए भी वियुक्त हो जाना तथा-

इच्छतां सह वधूभिरभेदं यामिनीविरहिणां विहगानाम्।
आपुरेव मिथुनानि वियोगं लङ्घयते न खलु कालनियोगः।।

किराता०, ९.१३

में उनकी दयनीय दशा को देखकर सरोजिनी का अपने मुखपंकज को नीचे झुका लेना हमारी दृष्टि में रमण के क्षणों की उद्दीपन सामग्री के प्रसंग में उचित नहीं प्रतीत होता। ऐसे अवसर पर प्रकृति का सम्भोग श्रृंगारानुरूप वर्णन ही अधिक सटीक होता।

उद्दीपन सामग्री के प्रस्तुतिकरण में महाकाव्यकार का सविस्तार प्रभावी चन्द्रोदय वर्णन जहाँ एक ओर अनेक प्राकृतिक बिम्बों के विधान में सफल सिद्ध हुआ है वहीं सम्पूर्ण वातावरण में मादकता भरने में भी उसे अद्‌भुत सफलता मिली है।

कामुक शशांक ने उदित होते ही अपनी प्रेयसी वासवी दिशा के मुख पर कान्तिमय किरणसमूह के व्याज से मानों पाउडर मल दिया हो :

व्यानशे शशधरेण विमुक्तः केतकीकुसुमकेसरपाण्डुः।
चूर्णमुष्टिरिव लम्भितकान्तिर्वासवस्य दिशमंशुसमूहः।।

किराता०, ९.१७

अपने प्रियतम के निकट आ जाने पर वियोगिनी ऐन्द्री दिशारूपी रमणी का मुख भी तमःशोक का परित्याग कर प्रसन्नता से खिल उठा :

उज्झती शुचमिवाशु तमिस्त्रामन्तिकं व्रजति तारकराजे।
दिक्प्रसादगुणमण्डनमूहे रश्मिहासविशदं मुखमैन्द्री।।

किराता०, ९.१८

प्राकृतिक बिम्बविधान में कुशल कृतिकार भारवि पूर्वसमुद्र से स्वर्णकलश के समान उदित होते हुए रक्तचन्द्रमा का सुन्दर दृश्य प्रस्तुत

करता हुआ उसे कुंकुमरंजित स्तनमण्डल की उपमा से उपमित करता है:

दीपयन्नथ नभः किरणौघैः कुङ्कुमारुणपयोधरगौरः।
हेमकुम्भ इव पूर्वपयोधेरुन्ममज्ज शनकैस्तुहिनांशुः।।

किराता०, ९.२३

प्रकृति के व्यापक परिवेश में भावानुरूप उद्दीपन सामग्री के रूप में चन्द्रमा के लिए कुंकुमारुणपयोधर की उपमा वस्तुतः पाठक की मानसिकता बरबस कृतिकार के मानसपटल पर ला बैठाती है और मूर्तचाक्षुष बिम्ब-विधान के द्वारा कविकर्मकौशल का भरपूर परिचय करा देती है। इतना ही क्यों, समस्त जीवलोक के समक्ष उद्गतचन्द्रा किन्तु अविभिन्नतमिस्रारजनी को लज्जाभरी नववधू के रूप में प्रदर्शित करके महाकवि ने मानों सम्पूर्ण वातावरण में सम्भोग श्रृंगार की मादकता भर दी है।

इसप्रकार उद्दीपन सामग्री के रूप में प्रसंगापतित चन्द्रोदयवर्णन के व्याज से कवि ने हमें अपने व्यापक सौन्दर्यबोध एवं भावचित्रों के बिम्ब का सहज ही में परिचय करा दिया है।

क्षणविशेषगत कालौचित्य का तीसरा उदाहरण हमारे कृतिकार की इस कृति में तब दिखाई देता है जब महाबाहु अर्जुन वराह का वध कर चुके अपने कृतकार्य बाण को वापस लेने के लिए आगे बढ़ता है उसी क्षण उसे सहसा त्रिभुवन विजयी कामदेव के संहारकर्त्ता किरातवेशी भगवान् शंकर का आदेश सुनाने के लिए उपस्थित हुआ एक धनुर्धारी वनेचर दृष्टिगोचर होता है :

तत्र कार्मुकभृतं महाभुजः पश्यति स्म सहसा वनेचरम्।
संनिकाशयितुमग्रतः स्थितं शासनं कुसुमचापविद्विषः।।

किराता०, १३.३५

त्रयोदश सर्ग के अग्रिम पैंतीस श्लोकों में कुशल दूत के अनुरूप शिष्टता, प्रशस्ति, प्रलोभन, स्वामियशःस्थापन एवं आतंक प्रदर्शनादि अनेक विध युक्तियों का प्रयोग करने वाले वनेचर की उपस्थिति के माध्यम से हमारा कृतिकार अपने काव्यनायक अर्जुन के चरित्र में एक बार पुनः अविचलधीरता की स्थापना करना चाहता है। इन्द्रसेना के रूप में मानों कामसेना पर विजय पा लेने पर भी कामदेव के सर्वप्रमुख अराति किरातवेशधारी भगवान् शंकर के शक्ति-साहस-भरे आदेश व उद्धत वचनों को सुनकर भी अपराजेय मध्यम पाण्डव का धैर्यच्युत न होना निश्चय ही परीक्षा की कसौटी पर तो खरा उतरता ही है काव्यनायक के चरित्र को अपेक्षित उत्कर्ष भी प्रदान करता है :

ततः किरातस्य वचोभिरुद्धतैः पराहतः शैल इवार्णवाम्बुभिः।
जहौ न धैर्यं कुपितोऽपि पाण्डवः सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः।।

किराता०, १४.१

प्रस्तुत श्लोक में 'सुदुर्ग्रहान्तःकरणा हि साधवः' अर्थान्तरन्यास के द्वारा अधीरता जैसे दोष के कल्मष से सर्वथाा असंस्पृष्ट साभ्रतासम्पन्न अर्जुन के लिए पाण्डव (उज्ज्वल) शब्द का प्रयोग कवि के उद्दिष्ट को और भी स्पष्ट कर देता है।

इसप्रकार क्षणविशेषगत कालौचित्य के उपर्युक्त निदर्शनों द्वारा महाकवि ने अपनी कालगत पकड़ को स्फुटतर रूप में प्रकट कर दिया है।

देशौचित्य :-

कोई भी महाकवि महाकाव्य जैसे विशाल प्रासाद की रचना करने के लिए अपने कथानक के धरातल के रूप में विभिन्न देश-प्रदेशों का चित्रण किया करता है। जिसके द्वारा उसके कथावस्तु का प्रतिपाद्य विषय काल व कर्म को अन्विति के साथ दैशिक अन्विति से संयुक्त होकर

पाठक के मानस को अपने देश, काल व कर्म की पृष्ठभूमि से हटाकर कवि–प्रणीत देशकाल व कर्म की पृष्ठभूमि से जोड़ देता है। साधारणीकरण की यही प्रक्रिया किसी कवि के काव्यकौशल के उत्कर्ष की परिचायिका होती है। महाकवि भारवि ने अपने किरातार्जुनीय महाकाव्य में घटनाक्रम के अनुरूप ऐसे अनेक देश विशेषों का चित्रण करके कलात्मक कविधर्म का तो पालन किया ही है, कथावस्तु को उचित आधार देकर काव्य को चमत्कारी भी बना दिया है।

देशौचित्य का प्रथम उदाहरण हमें किरातार्जुनीय महाकाव्य में तब देखने को मिलता है जब कुरुदेश के प्रजाजनों के प्रति सुयोधन के व्यवहार का पता लगाकर आया हुआ वनेचर राजा युधिष्ठिर के समक्ष कुरुप्रदेश की समृद्धि का वर्णन करता है। महाकवि भारवि देश वर्णन के व्याज से अपने महाकाव्य के भावी कथानक की शृंखला में एक ऐसी मजबूत कड़ी जोड़ना चाहता है जिसके द्वारा शत्रुविनाशहेतु किया जाने वाला सम्पूर्ण प्रयास चमत्कृत हो उठता है।

''संस्कृत शब्दार्थकौस्तुभ'' कोश के अनुसार राजनीति का अर्थ है ''वह नीति जिसका पालन करता हुआ राजा अपने राज्य की रक्षा और शासन को दृढ़ करता है।''

महाकवि भारवि युधिष्ठिर के समक्ष वनेचर के द्वारा सुयोधन की केवल इस राजनीति की निपुणता ही नहीं बताना चाहते, वह इस गुरु–गम्भीर अर्थ की और उनका ध्यान आकृष्ट करना है कि राज्य का प्रमुख अंग है भूमि या देश। भूमि की सम्पन्नता व समृद्धि से प्रजाजन को सुख व सन्तोष मिलता है और प्रजाजनों का सन्तोष ही राज्य की स्थिरता का असाधारण कारण है :

सुखेन लभ्या दधतः कृषीवलैरकृष्टपच्या इव सस्यसम्पदः।
वितन्वति क्षेममदेवमातृकाश्चिराय तस्मिन्कुरवश्चकासति।।

किराता०, १.१७

सुयोधन ने सम्पूर्ण कुरुप्रदेश को देवमातृक के स्थान पर नदीमातृक बना दिया है। वहाँ के किसानों को बिना मेघवर्षा व अधिक परिश्रम के ही सस्य सम्पदा सुलभ हो रही है। देवाधीन प्रदेशों की भाँति वहाँ अब अनावृष्टि आदि ईति की भीति नहीं रह गयी है। फलतः सारा देश हरा-भरा सुशोभित हो रहा है।

हमारे कुशल कृतिकार भारवि, वनेचर के माध्यम से सुयोधन के शासन की दृढ़ भूमिका की ओर इंगित कर राजा युधिष्ठिर के सम्मुख यह भाव स्पष्ट करना चाहते हैं कि सन्तुष्ट प्रजाजन वाले देश को सहज ही में नहीं जीता जा सकता, उसके लिए गहनश्रम व गम्भीर उपायों की आवश्यकता है।

यहाँ कवि ने दुर्योधन को सुयोधन बनाने के लिए राज्य व प्रजाजन के प्रति उसकी उदारनीति का परिचय दिया है। कुरुप्रदेश का यह समृद्धि-सम्पन्न वर्णन युधिष्ठिर के प्रयासों को जुटाने के लिए सर्वथा उचित ही है।

किरातार्जुनीय में हिमाद्रि देश के वर्णन की अवतारणा का प्रमुख औचित्य इस तथ्य में निहित है कि सर्ग चार के प्रथम श्लोक से छत्तीसवें श्लोक पर्यन्त पश्चिमोत्तर भारत के कृषिजीवन प्रधान समतल भू-भाग का चित्रण करने के उपरान्त महाकवि भारवि ने पद्य संख्या सैंतीस से अत्यन्त काव्यात्मक त्वरा से महाकाव्य के नायक जिष्णु को नगाधिराज हिमाद्रि पर जा खड़ा किया। हिमाद्रि देश के दिव्य और प्राकृतिक सौन्दर्य (द्रष्टव्य : किराता० ५.१ से १५ तक स्वयं कृतिकार के द्वारा तथा ५.१७ से ४८ तक यक्षपात्र के द्वारा किया गया हिमाद्रि देश का चमत्कारी वर्णन।) का वर्णन जिस प्रकार का है वह पाठक के मन पर ऐसा प्रभाव डालता है, मानों

काव्य का नायक धरातल की यात्रा पूरी कर अपने दिव्य गन्तव्य के निकट जा पहुँचा है। संक्षेप में यही इस हिमाद्रि देश के वर्णन का काव्यात्मक औचित्य है।

हिमाद्रि देश में पहुँचकर नायक अर्जुन अपनी लक्ष्यप्राप्ति के लिए तपस्या करे इससे पूर्व महाकवि भारवि अर्जुन के साथ यात्रा करने वाले यक्ष के द्वारा हिमाद्रि देश के ही एक प्रमुख प्रदेश इन्द्रकील पर्वत की दिव्यता का वर्णन करना चाहता है (द्रष्टव्य : किराता० ६.२ से ६.२८ तक)। तपस्योचित प्रदेश के इस वर्णन के पीछे रचनाकार का यह अभिप्रेत निहित है कि अर्जुन की तपस्या किसी सामान्य भूमि पर नहीं हो रही है अपितु अत्यन्त मनोरम दिव्यदेश पर वह तपस्या करेगा। भारवि ने सुवर्णमय शिखरों से युक्त इन्द्रकील देश की दिव्य मनोरमता को व्यक्त करने वाले निम्नलिखित पद्यों में सुगन्धित पवन के आनन्द का, जलकण के मधुरनिनादादि का, राजहंसों की पंक्तियों का तथा बालुकामय तटवर्ती प्रदेशों से युक्त सुरनदी गंगा में मिलने वाली सहायक नदियों के अद्‌भुत दृश्यों का कलात्मक दृष्टि से वर्णन किया है :

स ततार सैकतवतीरभितः शफरीपरिस्फुरितचारुदृशः।
ललिताः सखीरिव बृहज्जघनाः सुरनिम्नगामुपयतीः सरितः।।

किराता०, ६.१६

इन्द्रकील देश के प्राकृतिक सौन्दर्य के कविकृत ऐसे अद्‌भुत् वर्णनों से मानों अर्जुन को उत्साहित करना ध्वनित होता है। इस प्रसंग में भारवि का यह कथन द्रष्टव्य है :

अनुसानु पुष्पितलतावितति: फलितोरुभूरुहविविक्तवनः।
धृतिमाततान तनयस्य हरेस्तपसेऽधिवस्तुमचलामचलः।।

किराता०, ६.१८

अर्थात् पुष्पित तथा पल्लवित लताविमानों से युक्त शिखरों वाले एवं फलभार से सुशोभित वृक्षों से अलंकृत पवित्र वन प्रदेश वाले इन्द्रकील पर्वत ने अर्जुन को तपोनुष्ठान में अविचल उत्साह प्रदान कर अपनी अचलता का उसे साक्षात् अनुभव कराया।

देश विशेष की शोभा का यह उचित विनिवेश महाकाव्य के नायक अर्जुन की प्रसन्नता में तो सहायक है ही, अपनी सौन्दर्यसम्पत्ति के द्वारा पाठक के आकर्षण का भी केन्द्र बिन्दु है।

इन्द्रकील प्रदेश के वर्णन प्रसंग में यह बात ध्यान देने योग्य है कि यक्ष द्वारा अर्जुन की तपस्या के अनुरूप उसकी दिव्यमनोरमता का वर्णन किये जाने पर भी इन्द्रसेना के आगमन काल में यही इन्द्रकील प्रदेश देवांगनाओं एवं गन्धर्वों के लिए उपयोगी मादक उद्दीपन सामग्री के प्रस्तुतिकरण में भी सहायक सिद्ध हुआ है। देवांगनाओं द्वारा किया गया पुष्पावचय, जलक्रीड़ादि वनविहार सामग्री सम्भोग के अनेक चित्र इसी प्रदेश पर तो चित्रित किये हैं (द्रष्टव्य : किराता० ८.३ से ८.५८ तक)। प्रथम विमर्श के सिद्धान्त पक्ष प्रस्थापन प्रसंग में हम कह चुके हैं कि "यदि वर्ण्य घटना से देश और काल की अनुरूपता बैठ जाती है तो निश्चित ही काव्य की चारुता में चार चाँद लग जाते हैं।" महाकवि भारवि ने इन्द्रकील देश के इस वर्णन में इस काव्यश्री की उपलब्धि की है।

कुलौचित्य :-

प्रत्येक युग के प्रायः सभी कवियों ने कुलपरम्परा के उल्लेख को चरितोत्कर्ष का प्रमुख आधायक मानकर अपनी कृतियों में उसे ससम्मान स्थान दिया है। यही कारण है कि महाकवि भारवि ने भी अपने महाकाव्यनायक तथा नायकेतर पात्रों के चरित्र में उत्कर्ष लाने के लिए अन्य तत्वों के साथ कुलतत्व का भी विशेष रूप से उल्लेख किया है।

निदर्शनार्थ निम्नलिखित उदाहरण द्रष्टव्य है :

धैर्येण विश्वास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः।।

किराता०, ३.३४

महाकवि, तपस्या के लिए प्रस्थान करने वाले अर्जुन के वियोग से उत्पन्न परिस्थिति का चित्रण करते हुए बताना चाहता है कि शेष चारों पाण्डुपुत्रों में भ्रातृवियोग का दुःख अपना स्थान न बना सका, क्योंकि वे धीर थे, महर्षि वेदव्यास के वचनों में अपार श्रद्धा रखते थे उनमें शत्रु के दुर्व्यवहार को देखकर तीव्र मन्यु था और इन सब कारणों से प्रमुख कारण था मघवा के पुत्र अर्जुन के शौर्य का ज्ञान। यहाँ सामान्यतः "भाइयों को अपने भाई के पराक्रम का ज्ञान था" यह कहा जा सकता है, किन्तु कृतिकार ने अपने काव्यनायक के चरित्र में महान् उत्कर्ष लाने के लिए उसे 'सुतेमघोनः' कहकर उसके प्रसिद्ध पितृकुलागत पौरुष की ओर स्पष्ट इंगित किया है।

स्वस्ति नो मघवाधात्विन्द्रः। यजु० २०.५०

दुदोह गां स यज्ञाय सस्यायमघवादिवम्। रघु० १.२६

जानामि त्वां प्रकृतिपुरुषं कामरूपं मघोनः। पूर्वमेघ० ६

अनुष्ठितनिदेशोऽपिऽमघवः सत्क्रियाविशेषादनुपयुक्तमिवात्मानं समर्थये। (अभिज्ञा० सप्तमोऽङ्कः) क्रियादघानां मघवा विघातम् (किराता० ३.५२) इत्यादि वैदिक तथा लौकिक संस्कृत वाङ्मय के सुभाषितों में परम्परा से लब्धप्रतिष्ठ तथा विश्रुतपौरुष मघवा के पुत्र रूप में सन्दर्भित करके महाकवि भारवि निश्चय ही अर्जुन के चरित्र में भी पौरुष व प्रतिष्ठा की स्थापना करना चाहते हैं।

इसप्रकार प्रस्तुत पद्य में उदात्त पितृकुल के उचित संन्निवेश से चरितनायक अर्जुन के चरित्र में तथा उसके माध्यम से काव्य की रमणीयता में अतिमात्र वृद्धि हो गयी है।

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने।।

किराता०, ११.४५

यहाँ अर्जुन के तापस किन्तु शस्त्रधारी रूप को देखकर इन्द्र के मन में उठे हुए सन्देह का निराकरण करने के लिए महाकवि ने अर्जुन से कहलाया है कि– "मैं क्षत्रिय कुल में जन्मा हूँ, मेरे पिता का नाम पाण्डु व माँ का नाम पृथा है। मुझे धनंजय के नाम से पुकारा जाता है अंशभागीपरिवार के भाइयों द्वारा राज्य से निकाले गये अपने बड़े भाई युधिष्ठिर की आज्ञा से तपस्या कर रहा हूँ।

महाकवि भारवि ने यहाँ अपने काव्यनायक का कुलगतवैशिष्ट्य उभारने में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। अर्जुन क्षत्रिय है। क्षत्रिय का धर्म है 'क्षतात् त्रायते'। उसके ज्येष्ठ भ्राता को अपने पारिवारिक भाइयों की क्षति उठानी पड़ी है। उस क्षति से त्राण करना क्षत्रिय वंश में उत्पन्न होने के नाते इसका दायित्व है जिसका निर्वाह करने के लिए वह तपस्या में प्रवृत्त हुआ है। यही क्षत्रियकुलोत्पन्न अर्जुन निकट भविष्य में किरातराज के साथ होने वाले युद्ध का एक पक्ष बनकर आयेगा यह भी यहाँ ध्वनित हो रहा है। 'क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहंपार्थोधनञ्जयः' इस स्वाभिमान से भरे क्षत्रियकुलानुरूप कथन से भारवि ने अपने काव्यनायक अर्जुन को विशिष्ट व्यक्तित्व प्रदान करके पाठक की मानसिकता को अपने नायक के मानसिक धरातल से जोड़ दिया है। जिसके औचित्य के कारण सम्पूर्ण काव्य चमत्कृत हो उठा है।

स वंशस्यावदातस्य शशाङ्कस्येव लाञ्छनम्।
कृच्छ्रेषु व्यर्थया यत्र भूयते भर्तुराज्ञया।।

किराता०, ११.७५

प्रस्तुत पद्य में अपने भर्ता युधिष्ठिर की आज्ञा का पालन करने वाले तपस्वी अर्जुन का कथन है कि जो व्यक्ति विपत्ति में गृहस्वामी की आज्ञा का पालन नहीं करता वह अपने स्वच्छवंश के लिए चन्द्रमा के कलंक के समान है।

महाकवि भारवि ने यहाँ सत्कुलानुरूप आचार की भरपूर अभिव्यक्ति कराने वाली इस उक्ति में अर्जुन के उस मानवीय मूल्य का उभारा है जिसकी मर्यादा में वह तपस्या कर रहा है। अपने भर्ता राजा युधिष्ठिर के प्रति श्रद्धा व्यक्त करने के साथ-साथ यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अर्जुन को अपने वंशगत आचार का निरन्तर स्मरण है। गृहस्वामी के आदेश की अवहेलना से उत्पन्न किसी प्रकार के लांछन को वह अपने यशश्चन्द्र पर नहीं लगने देना चाहता।

इस प्रकार अपने काव्य नायक का कुलगत वैशिष्ट्यप्रतिपादन करके भारवि को चरित्रोत्कर्षाधान में पूर्ण सफलता प्राप्त हुई है।

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीनामृगजीवितच्छिदः।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः।।

किराता०, १४.२२

उक्त पद्य में अपने स्वामी किरात का बाण लेने के लिए आये हुए वनेचर के मैत्री प्रस्ताव को अर्जुन ने कुलगत वैषम्य का कारण बताते हुए ठुकरा दिया है।

भारवि ने यहाँ अर्जुन के उच्चकुल के अनुरूप 'वर्णाश्रमरक्षणोचिताः' तथा वनेचर के स्वामी किरात के नीचकुल के अनुरूप 'जातिहीनाः

मृगजीवितच्छिदः' जैसे पदों का समुचित प्रयोग किया है जिससे अर्जुन के प्रति कहे गये वनेचर के सभी प्रस्तावों का सशक्तशैली में खण्डन हो जाता है। रचनाकार ने यहाँ भारतीय समाज के दो वर्गों की वंशगत विषमता का चित्र उपस्थित करके अर्जुन के कथन को गम्भीर तथा काव्यानुरूप बना दिया है। यहाँ नायक अर्जुन को भरपूर हृदयावर्धक व्यक्तित्व मिल जाने से काव्य में विशेष उत्कर्ष आ गया है तथा पाठक की मानसिकता भी विशिष्ट व्यक्तित्व से जुड़ गयी है।

व्रतौचित्य :-

पात्रों के चरितोत्कर्ष में कुल की भाँति व्रत का औचित्यपूर्ण निर्वाह भी अत्यन्त सहायक होता है। महाकवि भारवि ने लक्ष्योन्मुख साधक अर्जुन के चरित्र के अनुरूप व्रतसाधना का अनेक स्थलों पर उल्लेख किया है। जिसके द्वारा उनके काव्य में व्यापक उत्कर्षधर्मिता परिलक्षित होने लगती है।

उदाहरण के लिए कुछ प्रसंग यहाँ द्रष्टव्य हैं।

किरातार्जुनीय महाकाव्य के बारहवें सर्ग में श्लोक २ से १६ तक अर्जुन के तपोव्रत का काव्यानुरूप वर्णन किया गया है। तपोव्रत धारण करने वाले अर्जुन ने इन्द्रकील पर्वत पर स्थित सिद्धों तथा तपस्वियों को किस प्रकार चकित बना दिया, इस विषय की अधिक स्पष्टता के लिए भारवि ने अर्जुन की कठोर तपस्या का सूक्ष्म तथा चमत्कारी वर्णन किया है। अनेक दिवसों तक सूर्य की ओर अभिमुख होकर धरा पर एक पैर से अर्जुन खड़ा रहता है :

अभिरश्मिमालि विमलस्य धृतजयधृतेरनाशुषः।
तस्य भुवि बहुतिथास्तिथयः प्रतिजग्मुरेकचरणं निषीदतः।।

किराता०, १२.२

वह शरीर तथा इन्द्रियों को सुखा देने वाले अनशन जैसे कष्टकारी साधनों के प्रयोग में भी हिमाद्रि की भाँति अडिग बना रहता है।

वपुरिन्द्रियोपतपनेषु सततमसुखेषु पाण्डवः।
व्याप नगपतिरिव स्थिरतां महतां हि धैर्यमविभाव्यवैभवम्।।

किराता० १२.३

अर्जुन के इस व्रताचरण में भारवि ने तत्वज्ञों, तेजस्वियों तथा मुनियों तक को भी आश्चर्यचकित होने का भाव व्यक्त करके उसके कठिन तपोव्रत की पर्याप्त अभिव्यक्ति करा दी है। उल्लेखनीय है कि नायक अर्जुन के कठोर व्रत का यही वर्णन आगामी कथानक में महर्षियों की चिन्ता का विषय बनता है। अतः आगामी घटनाक्रम का इंगित करने वाले व्रताचरण के इस उचित वर्णन से महाकवि की उर्वरा प्रतिभा का भरपूर परिचय मिलता है। अपने नायक अर्जुन का व्रताचरण व्यक्त करने में भारवि द्वारा प्रयुक्त उक्त वर्णन अपना कलात्मक महत्व तो रखता ही है, भारतीय संस्कृति के अनुसार किसी भी महान् व्यक्ति के चरितोत्कर्ष में तप तथा व्रताचरण की अनिवार्यता भी सिद्ध करता है।

न वर्त्म कस्मैचिदपि प्रदीयतामिति व्रतं मे विहितं महर्षिणा।
जिघांसुरस्मान्निहतो मया मृगो व्रताभिरक्षा हि सतामलङ्क्रिया।।

किराता०, १४.१४

व्रत रक्षा को सत्पुरुषों का अलंकार बताकर महाकवि भारवि अपने काव्य नायक अर्जुन के मुख से महर्षि वेदव्यास द्वारा अपने लिए निर्धारित व्रत के पालन का प्रतिपादन कर रहे हैं। अर्जुन कहता है कि महर्षि व्यास ने किसी भी प्राणी के आश्रम में प्रवेश न करने देने की मुझे आज्ञा दी थी। मैं उस व्रत का निरन्तर पालन कर रहा हूँ। यही कारण है कि मैंने उस वराह का वध किया है। अर्थान्तरन्यास के द्वारा कवि ने अर्जुन के कथन की पुष्टि

करके जहाँ काव्यार्थ को चारुता प्रदान की है, वहीं व्रताचरण के औचित्य की काव्योचित रक्षा की है।

तत्त्वौचित्य :-

यों तो कुल व्रतादि तत्वों के उल्लेख से काव्य नायक आदिक के चरितोत्कर्ष में पर्याप्त बल मिलता है किन्तु पात्र के मुख से तत्व कथन के माध्यम से जीवन के जिस सर्वग्राह्य आदर्श का प्राकट्य होता है तथा चरित्रोत्कर्ष में जो असाधारण वैशिष्ट्य दिखाई देने लगता है वह अन्य किसी उपादान के उल्लेख से नहीं। जीवन के सार्वभौम अनुभव कवि के इसी कुशल चित्रण द्वारा ही तो पाठक के मानसिक धरातल पर अवतरित हुआ करते हैं।

महाकवि भारवि की कृति में तत्वौचित्य के कतिपय उदाहरण द्रष्टव्य हैं –

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं हितान्न यः संशृणुते स किंप्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः।।

किराता०, १.५

वनेचर द्वारा सुयोधन की प्रजावृत्ति का वृत्त प्रतिपादित करने से पूर्व प्रस्तुत पद्य में कहा हुआ तथ्य सार्वकालिक तथा सार्वभौम है। "राजा और मन्त्री के परस्पर अनुकूल रहने पर ही उनमें सब प्रकार की समृद्धियाँ अनुरक्त रहती हैं" राजनीति विषयक इस तत्व के काव्यानुरूप प्रयोग से भारवि ने वनेचर पात्र की अपने स्वामी के प्रति हितभाव व्यक्त किया है। अपने कथन के प्रति राजा की अवधानशक्ति को केन्द्रित करने के लिए वनेचर की यह तत्वोक्ति काव्यार्थ में चमत्कार उत्पन्न कर रही है। फलतः यह तत्वौचित्य का सुन्दर निदर्शन है।

विचार करने पर इस तत्व कथन के औचित्य की राजनीतिक दृष्टि

से सटीकता होने पर भी यह बात समझ में नहीं आती कि इससे पूर्व के श्लोक (किराता० १.४) में सत्यवृत्त कथन के द्वारा वंचना से अपने को दूर रखने वाला अनुजीवी वनेचर यहाँ सखा अर्थात् मित्र या मन्त्री रूप में कैसे अपने को प्रदर्शित कर रहा है। वह दूतकर्म का निर्वाह करने के लिए ही नियुक्त है (किराता० १.१)। वृत्तनिवेदन द्वारा महाकवि ने दूत रूप में ही उसका चरित्र अंकन किया है। मन्त्री रूप में कोई परामर्श देने का अवसर उसे प्राप्त नहीं हैं। फिर घटना क्रम में अधिप और सखा का सम्बन्ध व्यक्त करने की क्या आवश्यकता पड़ गयी? यह हो सकता है कि वनेचर अपने को अनुजीवी कहकर अपनी विनीतता प्रकृत कर रहा हो अन्यथा वह राजदूत जैसे कर्म में ही नियुक्त किया गया हो। राजदूत का स्तर मन्त्रिमण्डल के किसी सदस्य से कम नहीं होता – यह तथ्य आज के प्रशासनिक ढांचे को देखने से प्रकट ही है।

इस प्रकार कथानक के घटनाक्रम में ही इस तत्व के औचित्य की सटीकता देखी जा सकती है।

तदलं प्रतिपक्षमुन्नतेरवलम्ब्य व्यवसायवन्ध्यताम् ।
निवसन्ति पराक्रमाश्रया न विषादेन समं समृद्धयः।।

किराता०, २.१५

पौरुषैक पक्षपाती भीमसेन ने अपने इस काव्यार्थ की पुष्टि में कि "अपनी उन्नति में बाधक इस उद्योगशून्यता का अब परित्याग कीजिए" सार्वकालिक तत्व से भरे हुए इस अर्थान्तर को उपन्यस्त किया है कि "समृद्धियाँ पराक्रम के सहारे रहा करती हैं विषाद के साथ उनका कोई मेल नहीं"।

महाकवि भारवि ने यहाँ इस निःसन्दिग्ध कथन का प्रयोग करके सम्पूर्ण काव्यार्थ को सौन्दर्य प्रदान किया है। भीमसेन की उक्ति को प्रभावी

बनाने के लिए कृतिकार द्वारा इस प्रकार के तत्वकथन का प्रयोग सर्वथा प्रसंगानुरूप ही है।

सम्पूर्ण कृति के निष्कृष्ट तत्वरूप में यदि किसी उक्ति को उद्धृत किया जाता है तो वह है –

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।

किराता०, २.३०

प्रस्तुत पद्य इस सार्वभौम सत्य का प्रतिपादन कर रहा है कि मनुष्य को कोई कार्य अविचारित शीघ्रता में नहीं करना चाहिए। अविवेक जहाँ आपत्तियों का निधान हैं वहीं विमर्षकारिता सर्वसम्पत्तियों का आकर्षण–केन्द्र है। विवेक के अभाव में आपत्तियों में पड़ जाना और भयावह से भयावह आपत्तियों से भी विवेक के बल पर बाहर निकल आना किस देश और किस काल में सर्वसम्मत नहीं रहा? ऐसे सार्वभौम सार्वकालिक तत्व के उचित कथन से न केवल युधिष्ठिर की चारित्रिक उदात्तता व धीरता का परिचय मिलता है अपितु महाकवि के मन्तव्य का भी इस पद्य में भरपूर प्रकटीकरण हुआ है।

सत्त्वौचित्य :-

महान पुरुषों की क्रियासिद्धि का सर्वप्रमुख उपकरण है सत्व। ('क्रियासिद्धि : सत्वे भवति महतां नोपकरणे' बल्लालभट्ट कृत भोजप्रबन्ध ६८)। इसी सत्व के बल पर अन्य भौतिक साधनों के अभाव में भी महान् पुरुषों को सहज ही सर्वापायनिरसन द्वारा लक्ष्य सिद्धि हुआ करती है। किरातार्जुनीय जैसे महाकाव्य के प्रणेता ने आकर्षण, प्रलोभन, वासना व आतंकादि के अनेक अवसरों पर अपने काव्यनायक के चरित्र में इस सत्व बल का यत्र तत्र सर्वत्र सन्निधान किया है। उदाहरण के लिए कुछ पद्य द्रष्टव्य हैं :

अभिभवति मनः कदम्बवायौ मदमधुरे च शिखण्डिनां निनादे।
जन इव न धृतेश्चचाल जिष्णुर्न हि महतां सुकरः समाधिभङ्गः।।

किराता०, १०.२३

अपने पात्र की महत्ता का प्रतिपादन करने वाला सत्वतत्व हमारे काव्य नायक जिष्णु में पूर्ण रूप से विद्यमान है। यही कारण है कि कदम्ब का अनिल तथा मदमधुर मयूरों का निनाद सामान्य जनों की भाँति उसके धैर्य को विचलित न कर सका। भारवि ने इसी सत्व के बल पर विष्णु की महत्ता बताते हुए स्पष्ट कह दिया कि "नहि महतां सुकरः समाधिभङ्गः"।

वस्तुतः यहाँ किसी अन्य बहिरंग कारण को समाधिभंग निरोध के रूप में प्रस्तुत न करते हुए महाकवि ने सत्व की अन्तरंगता तथा अन्तर्बलस्वरूपता को स्वतः ध्वनित कर दिया है –

रुचिकरमपि नार्थवद्बभूव स्तिमितसमाधिशुचौ पृथातनूजे।
ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः।।

किराता०, १०.६२

अपने काव्यनायक को सुर-सुन्दरियों के सर्वसाधनसम्पन्न सभी प्रयासों के प्रभाव से सर्वथा असंस्पृष्ट प्रदर्शित करने के लिए महाकवि ने उसे 'समाधिशुचि' बताकर सत्ववत्ता का यथावसर प्रभावी प्रदर्शन किया है। उसकी चारित्रिक महत्ता का समर्थन करते हुए अर्थान्तर के उपन्यास से कृतिकार ने इस शाश्वत सत्य का भी उल्लेख कर दिया है कि "ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः" ठीक भी तो है "मनस्वी कार्यार्थी गणयति न दुःखं न च सुखम्"। फिर भला "यदर्थं क्षत्रियासूते सकालोपम समागतः" का उपदेश करने वाली पृथातनूजात पर सुखों की अभिलाषाएँ अपना प्रभाव जमा ही कैसी सकती थीं?

इस प्रकार प्रस्तुत पद्य में चरित्रोत्कर्षधर्मिता के प्रमुख उपादान सत्य तत्व के उचित निवेश के फलस्वरूप महाकवि का काव्य चमत्कृत हो उठा है।

शिवभुजाहतिभिन्नपृथुक्षतीः सुखमिवानुबभूव कपिध्वजः।
क इव नाम बृहन्मनसां भवेदनुकृतेरपि सत्ववतां क्षमः।।

किराता०, १८.३

काव्य नायक कपिध्वज अर्जुन के सत्व बल का वर्णन करते हुए महाकवि ने उपर्युक्त श्लोक में भगवान् शंकर की भुजाओं के प्रहार से उत्पन्न घावों को भी सुखकारी जैसा अनुभव कराते हुए तथा अर्जुन की मनस्विता व तेजस्विता का असाधारण स्वरूप बताते हुए कहा है कि मनस्वियों के चरित्र का तो अनुकरण करना ही कठिन है उसका पालन तो बहुत दूर की बात है। वस्तुतः अर्जुन जैसा सत्वसम्पन्न काव्यनायक भारवि जैसे महाकवि की कल्पना-तूलिका से ही रूपयित हो सकता है। सत्वतत्व के इस समुचित निदर्शन से नायक के चरित्र में उत्कर्ष तो प्रस्फुटित हो ही गया है काव्यार्थ भी चमत्कारी हो उठा है।

सारसंग्रहौचित्य :-

औचित्य के तत्व सत्व आदि उपादान की भाँति सारसंग्रह भी काव्यार्थ को चमत्कृति प्रदान करने वाला एक प्रमुख तत्व है। ऋषियों, महापुरुषों व महाकवियों के जीवन की अनुभूतियों का संक्षिप्त सार इसी तत्व के माध्यम से पाठकों के मानस पटल पर उर्वरित हुआ करता है। भारवि ने अनेक प्रसंगों में सारसंग्रह के माध्यम से ऐसे ही सार्वभौम अनुभवों का अपने काव्य में सुन्दर चित्रण किया है। कुछ निदर्शन यहाँ द्रष्टव्य हैं :

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मनां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः।।

किराता०, २.२०

किरातार्जुनीय के द्वितीय सर्ग में भीमसेन के कथन को उपसंहार की ओर ले चलते हुए महाकवि ने मानी मनस्वियों के लिए साररूप में एक ही मार्ग बताया है और वह मार्ग है, "अपमान से हटकर मानमर्यादा अथवा तेजस्विता को धारण करना।" महाबली भीम प्रस्तुत पद्य में सामान्य कथन के रूप में इस सर्वजनग्राह्य अर्थ का उल्लेख करता है कि मानव राख के ढेर को पैरों से कुचल सकता है प्रज्वलित हिरण्यरेता को नहीं। उसके कहने का सार यह है कि हमें भी शत्रुकृत अपमान से बचने के लिए ज्वलनशील हिरण्यरेता की भाँति तेजधारण करना चाहिये, बिना तेजस्विता के तो मर जाना ठीक है।

भारवि ने उक्त कथन के माध्यम से प्रस्तुत काव्यार्थ के वक्ता भीमसेन के तेजस्वी व्यक्तित्व को तो उभारा ही है "ज्वलितं न हिरण्यरेतसम्" पदों के प्रयोग से हिरण्यरेता का मूर्तबिम्ब भी पाण्डवों के समक्ष रूपायित कर दिया है जिससे कवि का कलात्मक काव्य कौशल अभिव्यक्त हो उठा है।

अन्तकः पर्यवस्थाता जन्मिनः सन्तापदः।
इति त्याज्ये भवे भव्यो मुक्तावुत्तिष्ठते जनः।।

किराता०, ११.१३

प्रस्तुत श्लोक में अर्जुन के सम्मुख उपस्थित हुए इन्द्र ने अर्जुन के तप की प्रशंसा करते हुए सांसारिक प्राणियों के कष्टपूर्ण जीवन का उल्लेख करते हुए कहा है कि, "जन्म लेने के कष्ट के साथ जीवन जीते हुए भी प्राणी को निरन्तर आपत्तियाँ सहन करनी पड़ती हैं, मौत का भय तो

अनिवार्य रूप से उसके सामने हर समय खड़ा ही रहता है। ऐसी परिस्थिति में भला कौन भव्य पुरुष मुक्ति के लिए प्रयत्नशील नहीं होगा, उसके लिए ये संसार अनित्य है और त्याज्य है।

उक्त सारसंग्रह के उचित प्रयोग से जहाँ इन्द्र के कथन को सर्वमान्य आधार मिल गया है, वहीं अर्जुन के तप की सार्थकता का प्रतिपादन भी हो गया है। इतना ही क्यों, इस तपः साधना के कारण "चितवानसि कल्याणी यत्त्वां मतिरुपस्थिता" इन्द्र के इन शब्दों में अर्जुन की प्रशस्तचित्तता अथवा मनस्विता का भी समर्थन हो रहा है।

इसप्रकार जीवन के सारसर्वस्व रूप में संसार की अनित्यता ने अध्यात्म की आधार शिला पर अपने काव्य प्रासाद को प्रतिष्ठित करके भारतीय संस्कृति के लोकाचारगत औचित्य का सफल निर्वाह किया है।

स्तुवन्ति गुर्वीमभिधेयसम्पदं विशुद्धिमुक्तेरपरे विपश्चितः।
इति स्थितायां प्रतिपूरूषं रुचौ सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः।।

किराता०, १४.५

किरात की वाणी की प्रशंसा करते हुए मध्यम पाण्डव अर्जुन ने विद्वानों की भिन्न रुचियों का संकेत करते हुए प्रस्तुत पद्य में 'सुदुर्लभाः सर्वमनोरमा गिरः' वाक्य में सारसंग्रह के रूप में शाश्वतसत्य का स्पष्ट उल्लेख किया है। इस कथन को यदि विस्तार दें तो कह सकते हैं कि कुछ विद्वान् वाक्य में अर्थसम्पत्ति के प्रशंसक हैं तो अन्यविद्वान् वाक्य की शब्द-शुद्धि के पक्षपाती हैं वास्तव में 'भिन्नरुचिर्हिलोकः' पंक्ति वाणी के विषय में भी चरितार्थ होती है। सभी परिस्थितियों में साररूप में कहा जाय तो निष्कर्ष 'सुदुर्लभासर्वमनोरमा गिरः' ही निकलेगा।

उक्त कथन से हमारे कृतिकार ने जहाँ एक ओर अर्जुन की पैनी परख का परिचय दिया है वहीं दूसरी और अपनी कृति के प्रति दृष्टिकोण की

विभिन्नता रखने वाले विद्वानों को भी अपने मन्तव्य से अवगत करा दिया है कि सर्वमनोरम वाणी का प्रयोग सहज–सुलभ नहीं है। गुरु–गम्भीर अर्थ के प्रतिपादक भारवि का यह कथन अपने लिये प्रयुक्त ''भारवेरर्थगौरवम्'' सूक्ति के अनुरूप ही है।

अवस्थौचित्य :-

कोई भी कृतिकार स्वरचित काव्य के पात्रों के चरित्रांकन में वैयक्तिक विशेषता लाने के लिए अवस्था भेद का सहारा लिया करता है। इसी के आधार पर एक ही वर्ग के विभिन्न व्यक्तियों में चारित्रिक उत्कर्षापकर्ष दिखाया जाता है। प्रतिपाद्य विषय को प्रभावी बनाने के लिए तदनुरूप अवस्था का चित्रण काव्यकार के लिए अनिवार्य भी है। यही कारण है कि हमारे कृतिकार ने अपने पात्रों के चरित्रांकन के यौवन, प्रौढ़ व वृद्धअवस्थाओं का यत्र तत्र पात्रानुरूप चित्रण किया है।

यहाँ कतिपय निदर्शन द्रष्टव्य हैं –

स यौवराज्ये नवयौवनोद्धतं निधाय दुःशासनमिद्धशासनः।
मखेष्वखिन्नोऽनुमतः पुरोधसा धिनोति हव्येन हिरण्यरेतसम्।।

किराता०, १.२२

प्रकृत श्लोक में निबद्ध काव्यार्थ का पर्यवसान सुयोधन की दृढ़ एवं कठोर शासन व्यवस्था सूचित करने में होता है। सुयोधन के लिए प्रयुक्त ''इद्धशासन'' तथा ''अखिन्न'' विशेषणों की आधार भूमि दुःशासन के यौवराज्य में बनाई गयी है। युवराज दुःशासन को 'नवयौवनोद्धत' विशेषण उसके शासकीय चारित्र्य की कठोरता को ध्वनित करने में पूर्ण सार्थकता रखता है। स्पष्टतः युवराज दुःशासन के चारित्र्य में पूर्ण औद्धत्य लाने के लिए ''नवयौवन'' **अवस्था** का उचित प्रयोग किया गया है।

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।।

किराता०, १.३६

अवस्थागत औचित्य का अभिनन्दनीय निदर्शन इस पद्य में पकड़ा जा सकता है। भले ही वहाँ अवस्था का शब्दशः उल्लेख न हो परन्तु नकुल–सहदेव का नाम से उल्लेख न करके 'यमौ' शब्द से उल्लेख उनकी कोमल किशोर अवस्था का व्यंजक है, और निश्चित ही उनकी अवस्था के अनुरूप वनजीवन के कष्ट देखकर 'धृतिसंयम' छूट जाने की मानसिकता को बनाने की उचित भूमि प्रशस्त हो रही है। यही तो द्रौपदी के कथन का अभिप्रेतार्थ है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य के एकादश सर्ग के श्लोक २ से ६ तक महाकवि भारवि ने मुनिरूपधारी इन्द्रपुत्र के सामने वृद्धमुनिरूपधारी इन्द्र को उपस्थित किया है –

मुनिरूपोऽनुरूपेण सूनुना ददृशे पुरः।
द्राघीयसा वयोतीतः परिक्लान्तः किलाध्वना।।
जटानां कीर्णया केशैः संहत्या परितः सितैः।
पृक्तयेन्दुकरैरह्नः पर्यन्त इव सन्ध्यया।।
विशदभ्रुयुगच्छन्नवलितापाङ्गलोचनः ।
प्रालेयावततिम्लानपलाशाब्ज इव ह्रदः।।
आसक्तभरनीकाशैरङ्गैः परिकृशैरपि।
आद्यूनः सद्गृहिण्येव प्रायो यष्ट्यावलम्बितः।।
गूढोऽपि वपुषा राजन्धाम्ना लोकाभिभाविना।
अंशुमानिव तन्वभ्रपटलच्छन्नविग्रहः।।

किराता० ११.२,३,४,५,६

महाकवि भारवि ने इन पाँचों श्लोकों में वृद्धावस्था के अनुरूप अंगावयवों का सजीव चित्र तो अंकित किया ही है उसकी कान्ति में भी दिव्यतेजस्विता के दर्शन यहाँ कराये गये हैं। वृद्धमुनि के इस प्रभावी चित्रांकन में जहाँ एक ओर कवि के कलात्मक कौशल को सफल अभिव्यक्ति मिली है वहीं अपनी कृति में अर्थगौरव से भरे उपदेश की गरिमा को सुरक्षित रखते हुए तदनुरूप व्यक्तित्व का उचित समायोजन करने की कवि प्रतिभा का परिचय भी प्राप्त होता है।"

फलतः महाकवि द्वारा किया गया यह अवस्थागत वर्णन काव्यार्थ को रमणीयता प्रदान करता है साथ ही चमत्कार को भी जन्म देता है।

आशीर्वादौचित्य :-

काव्य में आशीर्वाद के उचित स्थान पर प्रयुक्त होने से चमत्कार आ जाता है। यह आशीर्वाद कभी-कभी शुभकामनाओं के रूप में भी प्रयुक्त होता है। भारवि ने कम आयु वाले पात्रों से अधिक आयु वाले पात्रों को शुभकामनाओं के शब्दों में इसकी अभिव्यक्ति की है तथा दीर्घआयु वाले महर्षि व्यास व भगवान् शंकर के द्वारा अभीष्ट सिद्धि को प्राप्त करने का अर्जुन को आशीर्वाद भी प्रदर्शित किया है। कुछ निदर्शन द्रष्टव्य है :

विधिसमयनियोगाद्दीप्तिसंहारजिह्मं
शिथिलवसुमगाधे मग्नमापत्पयोधौ।
रिपुतिमिरमुदस्योदीयमानं दिनादौ
दिनकृतमिव लक्ष्मीस्त्वां समभ्येतु भूयः।।

किराता०, १.४६

उपर्युक्त श्लोक में राज्यलक्ष्मी से विहीन राजा युधिष्ठिर के प्रति द्रौपदी की यह शुभकामना सर्वथा उचित है कि "अस्त होने के उपरान्त रात्रि के अन्धकार में डूबे हुए सूर्य को प्रभातकाल में जिस प्रकार श्रीसम्पन्नता

प्राप्त होती है उसी प्रकार आपत्तियों में मग्न आपको शत्रुरूप अन्धकार का विनाश करने के उपरान्त उदय की बेला में राज्यलक्ष्मी प्राप्त होवे।"

द्रुपदात्मजा के उक्त कथन में शत्रुविनाश के उपरान्त पुनः प्राप्त होने वाली राज्यलक्ष्मी की ओर स्पष्ट संकेत करके महाकवि ने जहाँ एक ओर द्रौपदी के सम्पूर्ण पौरुषपक्ष का सार निहित कर दिया है जिसके बिना अरिविनाश सम्भव ही नहीं वहीं दूसरी ओर 'समम्येतु' इस लोट्लकार के प्रयोग ने शुभकामना की अवश्यम्भाविता भी प्रतिपादित कर दी है।

प्रतीत होता है कि यहाँ तेजस्विनी पांचाली मानो आज्ञावाचक 'समभ्येतु' क्रियापद के द्वारा लक्ष्मी को युधिष्ठिर के पास आने का आदेश प्रसारित कर रही हो।

प्रियेषु यैः पार्थ विनोपपत्तेर्विचिन्त्यमानैः क्लममेति चेतः।
तव प्रयातस्य जयाय तेषां क्रियादघानां मधवा विघातम्।।

किराता०, ३.५२

प्रकृत पद्य में तपःसाधना के लिये जाते हुए अर्जुन के प्रति द्रौपदी शुभकामना प्रकट करती हैं कि "हम सभी के अभ्युदय के सम्बन्ध में आपके मन में जो चिन्ताएं हों उन्हें देवराज इन्द्र नष्ट करें।" उल्लेखनीय है कि इन्द्रकील पर्वत पर जाकर इन्द्र को प्रसन्न करने वाले पार्थ के प्रति याज्ञसेनी द्रौपदी की उक्त शुभकामनाएँ नितान्त औचित्यपूर्ण हैं। स्वाभाविक है कि अर्जुन के मन को अपने बन्धुबान्धवों की ओर से कुछ चिन्ता रहेगी, इसीलिए द्रौपदी विजयार्थ प्रस्थित अर्जुन के हृदय में उन चिन्ताओं के विनाश के लिए इन्द्र से प्रार्थना करके उनका आशीर्वाद अर्जुन को दिलाना चाहती है जिससे वह परिवारजनों की ओर से निश्चिन्त होकर जयप्राप्ति हेतु निर्विघ्न तपःसाधना कर सके।

इसप्रकार तपस्या की विघ्नबाधाओं की निवृत्ति से सम्बन्धित द्रौपदी का उक्त कथन सर्वथा सटीक होने से अर्थगत वैशिष्ट्य उत्पन्न करता है।

मा भूवन्नपथहृतस्तवेन्द्रियाश्वाः

सन्तापे दिशतु शिवः शिवां प्रसक्तिम्।

रक्षन्तस्तपसि बलं च लोकपालाः

कल्याणीमधिकफलां क्रियां क्रियासुः।।

किराता०, ५.५०

प्रस्तुत पद्य में कुबेरसेवक यक्ष, महाकाव्य नायक अर्जुन के प्रति वही सब आशंसाएँ प्रकट कर रहा है जो अर्जुन के भावी कार्यों से सम्बन्ध रखती हैं इन्द्रियरूपी अश्वगण तुम्हें कुमार्ग में न ले जाएँ, तपःक्लेशों के उपस्थित होने पर शंकर जी तुम्हें उत्साह दें, लोकपाल बल की रक्षा करते हुए तुम्हारे तपः अनुष्ठान को सफल बनाएँ– इन सभी शुभकामनाओं से अर्जुन की तपोयोजना प्रकट होती है तथा भविष्य में आने वाली विविध बाधाओं का संकेत भी मिलता है, जिनकी ओर से अर्जुन को सतत सावधान रहने की आवश्यता है।

निष्कर्ष

इसमें कोई सन्देह नहीं कि मध्ययुगीन भारतीय जीवनपद्धति के प्रतीक रूप में लोकाचारगत औचित्य समीक्षा के मानदण्ड के देशकाल, कुल–व्रत, तत्व–सत्व आदि प्रभेदों के विभिन्न समुचित प्रयोगों के माध्यम से हमारे कृतिकार महाकवि भारवि ने समसामयिक सामन्तवादी समाज के लोकाचार की स्पष्ट झाँकी पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर दी है, इस दृष्टि से की गई यह समीक्षा निश्चय ही आधुनिक काव्यसमीक्षकों के लिए सन्तोष प्रदान करेगी। शिवपुराण तथा महाभारत के कथानक को मध्ययुगीन परिप्रेक्ष्य में विनियोजित करने के महाकवि भारवि के प्रयास को औचित्य समीक्षा के निकष पर परीक्षित करने का हमारा यह प्रयास ऐतिहासिक काव्यों की सामयिक समीक्षा के लिए दिशानिर्देश के रूप में प्रथम प्रयोग समझा जाय।

षष्ठ विमर्श पूर्ण

सप्तम विमर्श

मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामूलक रसादिगत औचित्य

प्रत्येक रचना भले ही वह लघु मुक्तक हो अथवा बृहत्काय महाकाव्य, उसकी एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया होती है। रचना की इस मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया को हम दो प्रकार से विश्लेषित कर सकते हैं प्रथम तो कवि की सम्पूर्ण कृति को जन्म देने वाली युगीन परिस्थितियों से निर्मित मानसिकता के रूप में, द्वितीय रचनागत भिन्न-भिन्न सन्दर्भों में अभिव्यक्त भावरूपों की तर्कसंगत मनोवैज्ञानिक संयोजना के रूप में। उदाहरण के लिए महाकवि भारवि की कृति '**किरातार्जुनीयम्**' में वीररस तथा सम्भोग शृंगार के चित्रण की कविमानसिकता का औचित्य उसके सामन्ती युग के समाज की अभिजात अभिरुचि के परिवेश में ही समझा जा सकता है न कि अधुनातन परिवेश में। आज की सामाजिक परिस्थितियों से निर्मित मानसिकता कथमपि इन रसरूपों का उस रूप में साधारणीकृत अनुभव नहीं होने दे सकती अर्थात् अपना मनोवैज्ञानिक औचित्य निर्वाहित नहीं कर सकती। इसी प्रकार कवि की भावानुभूतियों को अभिव्यंजित करने वाले सभी काव्य-उपादानों का मनोवैज्ञानिक औचित्य हमें इस तथ्य में देखना होगा कि उनका संयोजन मनोवैज्ञानिक रूप से कितना उचित रहा है?

प्रस्तुत विमर्श में रस, अलंकार, गुण, अभिप्राय, स्वभाव, प्रतिभा, विचार, नाम वृत्त इन काव्यउपादानों का औचित्य विश्लेषण उक्त मनोवैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में ही किया जाना है।

रसौचित्य :

महाकवि भारवि प्रकृति से अर्थगम्भीर कृति के रचनाकार होने के नाते मुख्यतः वीररस के सिद्धहस्त कवि हैं। सामयिक सामन्ती परिस्थितियों ने उन्हें शृंगाररस का सिद्धहस्त कवि बनाया है। यही कारण है कि किरातार्जुनीय महाकाव्य की वीररसानुकूल पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए जहाँ उन्होंने शत्रुपक्ष की वैभवपूर्ण स्थिति का चित्रण करने वाले वनेचर का वक्तव्य समाप्त होते ही तेजस्विनी द्रुपदात्मजा व वीराग्रणी भीम की तीखी उक्तियों का प्रथम दो सर्गों में वीररसभरित उपनिबन्धन किया है, वहीं वीर तापस अर्जुन के युद्ध प्रसंगों में भारवि ने अपनी कृति के अन्तिम ६ सर्ग वीररस के प्रतिपादन में ही उपनिबद्ध किये हैं। कृति के मध्य में आठवें व नौवें सर्ग की रचना करते समय कवि ने अप्सराओं के यात्रा प्रसंग में जो संभोगशृंगार का वर्णन किया है वह वस्तुतः प्रतिपाद्य कोटि का पूर्वपक्ष ही है, कवि का अभिमत उत्तरपक्ष तो वीरव्रती पार्थ का संयम व्यक्त करना ही है।

राजा युधिष्ठिर के क्रोध व उद्योग को उद्दीप्त करने वाली द्रुपदात्मजा की वीरप्रसविनी वाणी में पदे पदे 'उत्साह' स्थायी भाव के पोषक उद्दीपनों, अनुभावों एवं संचारीभावों का चित्र उपस्थित होता है। वह सबसे पहली चोट युधिष्ठिर के इन्द्रतुल्य पराक्रमी भूपतियों द्वारा चिरकाल तक अखण्डरूप में धारण की हुई महिमामयी मही को अपने हाथों से फेंक देने का उल्लेख करके करती है :

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयात्महस्तेन महीमदच्युता मतङ्गजेन स्त्रगिवापवर्जिता।।

किराता० १.२९

उसके मतानुसार वे मूढ़बुद्धि राजा पराभव को प्राप्त होते हैं जो

मायावियों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते :

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।।

वही १.३०

वह अपने विचारों को मानो "यस्मिन् यथा वर्तते, यो मनुष्यस्तस्मिंस्तथा वर्तितव्यं स धर्मः। मायाचारो मायया बाधितव्यः साध्वाचारः साधुना प्रत्युपेयः **(महाभारत)** महाभारत के इस कथन को पोषक रूप में पाठकों के समक्ष ला देती है। वह निःसंकोच कह उठती है कि तुम्हें छोड़कर कौन कुलाभिमानी नराधिप होगा जो मनोरमा कुलवधू की भाँति अपनी राज्यलक्ष्मी का दूसरों से अपहरण कराकर चुप बैठेगा?

गुणानुरक्तामनुरक्तसाधनः कुलाभिमानी कुलजां नराधिपः।
परैस्त्वदन्यः क इवापहारयेन्मनोरमामात्मवधूमिव श्रियम्।

किराता० १.३१

उसे आश्चर्य है कि ऐसे दयनीय दशा वाले गर्हित मार्ग में चलते हुए युधिष्ठिर को सूखे शमी वृक्ष की अग्नि की भाँति क्रोध जला क्यों नहीं रहा है?

भवन्तमेतर्हि मनस्विगर्हिते मानं नरदेव वर्त्मनि।
कथं न मन्युर्ज्वलयत्युदीरितः शमीतरुं शुष्कमिवाग्निरुच्छिखः।।

किराता० १.३२

उसका स्पष्ट मत है कि जिसके क्रोध में दण्ड देने का सामर्थ्य होता है, सब लोग उसके वश में हो जाते हैं और जिसका क्रोध निष्फल रहता है उसके मित्र भी उसका आदर नहीं करते शत्रु तो उससे डरेंगे ही क्यों?

अवन्ध्यकोपस्यविहन्तुरापदां भवन्ति वश्याः स्वयमेव देहिनः।

अमर्षशून्येन जनस्य जन्तुना न जातहार्देन न विद्विषादरः।।

किराता० १.३३

मनोविज्ञान के प्रखरपारखी महाकवि भारवि ने द्रौपदी की इन ओजस्विनी उक्तियों के माध्यम से जहाँ एक ओर अपनी पैनी परख का परिचय दिया है वहीं दूसरी ओर वीररस के सर्वांग चित्रण में अपनी प्रतिभा का उचित प्रयोग करके रसौचित्य का उत्तम निदर्शन प्रस्तुत कर दिया है।

किरातार्जुनीय महाकाव्य के द्वितीय सर्ग में धृति, मति, प्रहर्ष, मद, चपलता तथा गर्वादि संचारियों के समुचित संयोग से संकलित भीमसेन की वीररसमयी उक्तियों में हमारे कृतिकार का मदभरा स्वाभिमानी स्वभाव मुखर हो उठा है।

महाकवि भारवि के भीम को सबसे अधिक कष्टकर यदि कुछ है तो वह है देवताओं द्वारा प्रशंसित युधिष्ठिर के पौरुष का ह्रास :

विधुरं किमतः परं परैरवगीतां गमिते दशामिमाम्।
अवसीदति यत्सुरैरपि त्वयि सम्भावितवृत्ति पौरुषम्।।

किराता० २.७

उसके लिए यदि सबसे अधिक असह्य है तो केवल शत्रु का अभ्युदयः

द्विषतामुदयः सुमेधसागुरुरस्वन्ततरः सुमर्षणः ।
न महानपि भूतिमिच्छता फलसम्पत्प्रवणः परिक्षयः।।

किराता० २.८

उसके लिए यदि कोई प्रतीकार अचिरकर्तव्य के रूप में उपस्थित है तो केवल अपनी शीघ्र होने वाली भीषण हानि और शत्रु की देर में होने वाली थोड़ी हानि को दूर करने का उपाय :

अचिरेण परस्य भूयसीं विपरीतां विगणय्य चात्मनः।

क्षययुक्तिमुपेक्षते कृती कुरुते तत्प्रतिकारमन्यथा।।

किराता० २.९

बचने का एक मात्र आलम्बन यदि किसी स्वाभिमानी मनस्वी का कोई है तो केवल अपना पुरुषार्थ :

अभिमानवतो मनस्विनः प्रियमुच्चैः पदमारुरुक्षतः।
विनिपातनिवर्तनक्षमं मतमालम्बनमात्मपौरुषम्।।

वही २.१३

स्वाभिमान के उच्चतम शिखर को स्पर्श करने वाली भीम की इस उक्ति में, कि "अपने तेज से संसार को तुच्छ बना देने वाला कोई भी महान् पुरुष दूसरों की कृपा से वैभव प्राप्त करना नहीं चाहेगा" :

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन्खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।।

वही २.१८

महाकवि भारवि की मनोवैज्ञानिक पकड़ का हमें प्रत्यक्ष परिचय मिलता है। वीररसाप्लावित ऐसे कथन किस मुर्दे के शरीर में भी जान नहीं डाल देंगे। अपने दो प्रमुख पात्रों के द्वारा प्रथम दो सर्गों में वीररस का इस प्रकार का प्रतिपादन करके भारवि ने स्वयं अपने काव्य का प्रमुख रस "वीर" सिद्ध कर दिया है।

अंगीवीररस के सांगोपांग प्रतिपादन में महाकवि ने अंगरूप में करुण, रौद्र, भयानक, बीभत्स व अद्भुत् रस का सुन्दर चित्रण करते हुए रसप्रतिपादन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का पूरा ध्यान रखा है। द्रौपदी की वीररसमयी उक्तियों में धर्मराज के हृदय को उद्वेलित कर देने वाले जिन कारुणिक व मार्मिक प्रसंगों का भारवि ने उल्लेख किया है उनमें स्वयं

धर्मराज के मणिपीठशायीचरणयुगल का तीखी कुशाओं पर पड़ना, वृकोदर का अन्तर्गिरिरेणुरुषित्व, अर्जुन की वल्कलवस्त्रधारिता तथा नकुल व सहदेव दोनों अनुजों का वनान्तशय्याकठिनीकृताकृतित्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जो तटस्थ पाठक तक के मन में करुणा की कल्लोलिनी को स्फुरित किये बिना नहीं रहते।

इस प्रसंग में विशेष रूप से द्रष्टव्य यह है कि द्रौपदी ने अपने सम्पूर्ण वक्तव्य में अपनी किसी दशा की ओर कोई इंगित न करके धर्मराज युधिष्ठिर के मन पर यह स्थायी प्रभाव छोड़ दिया है कि द्रौपदी का कथन स्वार्थ से प्रेरित नहीं है, इसे अपनी नहीं और सबकी चिन्ता है।

मानिनी द्रुपदात्मजा के प्रतिपाद्य विषय का समर्थन करने वाले मानी भीमसेन की उत्साह भरी उक्तियों में भारवि ने मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया का अवलम्बन करते हुए धर्मराज के हृदय में शत्रुओं द्वारा भड़कायी गयी अग्नि को शान्त करने के लिए रिपुओं की नारियों के नयनाम्बुप्रवाह को एक मात्र शमन का हेतु बताकर भीमसेन के कोपपरीतमानसत्व का जो दृश्य प्रस्तुत किया है वह निश्चय ही अंगीवीररस के अंगरूप में रौद्ररस का प्रभावी बिम्ब उपस्थित कर रहा है जिसे शान्त करने के लिए युधिष्ठिर को वैसा ही प्रयत्न करना पड़ता है जैसे बिगड़े हुए हाथी को शान्त करने के लिए किसी महावत को कोई प्रयत्न करना पड़े :

इतिदर्शितविक्रियं सुतं मरुतः कोपपरीतमानसम्।
उपसान्त्वयितुं महीपतिर्द्विरदं दुष्टमिवोपचक्रमे।।

किराता० २.२५

इस प्रसंग में रचनाकार की यदि चूक देखी जाय तो वह इस बात में कि उसने भीमसेन जैसे महापराक्रमी के वचनों में कहीं भी रौद्र रस के भरपूर मात्रा में दर्शन नहीं कराये। उचित होता कि कोपपरीत मानसत्व की

पुष्टि में कम से कम दो श्लोक पहले भीम की विक्रिया को प्रदर्शित करने के लिए व उसके अमर्ष की स्थिति को अभिव्यक्त करने के लिए लिख दिये होते।

वक्ता व श्रोता की मानसिक वृत्तियों का गम्भीर व सूक्ष्म पर्यवेक्षण करने वाले हमारे कृतिकार ने वीरव्रती अर्जुन के युद्ध प्रसंगों में भी अंगीवीररस के विविधचित्र उपस्थित किये हैं जो विशेषकर तेरहवें सर्ग से १८वें सर्ग तक निबद्ध हैं। युद्धप्रसंग के इन चित्रों से महाकवि ने अंगीवीररस के सहायक अंग रूप में रौद्र, भयानक, अद्‌भुत् वत्सलादि रसों का भी उचित सन्निवेश किया है। भारवि ने अर्जुन के शूकर दर्शन से पाशुपतास्त्र प्राप्ति तक के विषय का जिस वीररसभरित भाषा में निबन्धन किया है वह पाठक के चित्त को वीररस से आप्लवित तो करता ही है, नायक अर्जुन के चारित्रिक उत्कर्ष को भी भरपूर अभिव्यक्ति देता है। जबसे अर्जुन एक भयंकर वराह को देखता है तभी से उसके मन में 'उत्साह' नामक स्थायी भाव जागरित होता है और वह उसे मारना चाहता है। नायकगत उत्साह स्थायी भाव के पोषण के लिए प्रतिनायक की उपस्थिति और भी अधिक उद्दीपनकारिणी होती है जिसका संयोग रसनिष्पत्ति के लिए परमावश्यक है। कृतिकार ने वराह को ही लक्ष्य बनाने वाले किरातवेशधारी भगवान् शंकर की उपस्थिति के द्वारा इस अपेक्षा की पूर्ति की है जो उनकी रससिद्धता का प्रत्यक्ष निदर्शन है।

वराहवध के अनन्तर भारवि ने उचित अवसर पाकर अर्जुन का वीरोचित स्वरूप स्पष्ट करने के लिए मृत वराह के समीप किरात के एक अनुचर को उपस्थिति किया है जो अर्जुन के सम्मुख एक विस्तृत भाषण के द्वारा अपने स्वामी से मैत्री करने का प्रस्ताव रखता है। अर्जुन ने उत्साह स्थायीभाव तथा 'धृति' नामक व्यभिचारी भाव से संवलित वाणी में जो उत्तर दिया है उससे अर्जुन का 'युद्धवीर' स्वरूप मुखर हो उठा है। किरात

के साथ मैत्रीधर्म को असंगत बताते हुए अर्जुन का कथन है कि कहाँ तो वर्णाश्रम की रक्षा करने वाले हम तथा कहाँ जातिहीन पशुओं को मारकर जीविका चलाने वाला किरात इस असंगति के कारण किरात के साथ हमारी मैत्री सर्वथा अनुचित है। हाथी सियारों से मित्रता नहीं किया करते:

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्वजातिहीनाः मृगजीवितच्छिदः।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः।।

किराता० १४.२२

किरात को अज्ञानी व मूर्ख बताते हुए उसकी कठोर व आक्षेपभरी उक्तियों की सर्वथा उपेक्षा करने वाले अर्जुन का स्पष्ट उद्घोष है कि मूर्ख मनुष्य के द्वारा सज्जन का अपमान होने से सज्जन अधीर नहीं हुआ करते। अपितु समान पराक्रम, वंश और पौरुष वाले व्यक्ति के द्वारा किये गये अपमान से ही उनका तिरस्कार होता है :

परोऽवजानाति यदज्ञताजडस्तदुन्नतानां न विहन्ति धीरताम्।
समानवीर्यान्वयपौरुषेषु यः करोत्यतिक्रान्तिमसौ तिरस्क्रिया।।

किराता० १४.२३

विचारवान् व्यक्ति नीच व्यक्ति के कथन की अवज्ञा के साथ उपेक्षा करने में ही कीर्ति और गुण की वृद्धि समझते हैं :

यदा विगृह्णाति हतं तदा यशः करोति मैत्रीमथ दूषिता गुणाः।
स्थितिं समीक्ष्योभयथापरीक्षकः, करोत्यवज्ञोपहतं पृथग्जनम्।।

किराता० १४.२४

इस प्रसंग में उत्साह के अनुरूप धृति संचारीभाव का पोषण करके कवि ने अपने काव्यनायक की धीरोद्धतता स्पष्ट सिद्ध कर दी है। पराक्रमी पार्थ का किरात के अनुचर के प्रति कथन है कि यदि इन सबके पश्चात्

भी तुम्हारे स्वामी बाण लेने के लिए आना चाहेंगे तो दृष्टिविष नामक सर्प के मस्तक से मणि ग्रहण करने वाले व्यक्ति की जो दशा होती है वही उनकी भी होगी :

मयामृगान्हन्तुरनेन हेतुना विरुद्धमाक्षेपवचस्तितिक्षितम्।
शरार्थमेष्यत्यथ लप्स्यते गतिं शिरोमणिं दृष्टिविषाज्जिघृक्षतः।।

वही १४.२५

काव्यनायक अर्जुन के मुख से कही गयी इन ओजस्वी तथा गम्भीर गर्वोक्तियों में महाकवि ने अपने मुख्य प्रतिपाद्य अंगीवीररस का सजीव बिम्ब उपस्थित किया है। इसप्रकार के बिम्बविधान से पाठक की मनोभूमि पात्र की मनोभूमि से सहज ही में जुड़ जाती है। काव्यशास्त्रीय भाषा में उक्त कथांश का यदि हम विश्लेषण करें तो अर्जुन के हृदय में उद्बुद्ध स्थायीभाव उत्साह का आलम्बन यहाँ उसके द्वारा विद्ध वराह को अपना वेध्य बताने वाला किरात है। अनुचर का भिन्न-भिन्न प्रकार से अपने स्वामी का प्रताप बताकर अर्जुन को उत्तेजित करना व अनेक प्रलोभन देना उद्दीपन विभाव हैं। अर्जुन की गर्वोक्तियाँ यहाँ अनुभावस्थानीय हैं। उन उक्तियों में प्रतिपादित धृति व गर्व आदि संचारी भाव रसपोषक सामग्री के रूप में विद्यमान हैं।

इसप्रकार हम देखते हैं कि किरातार्जुनीय महाकाव्य के तेरहवें सर्ग की वनेचरोक्ति से लेकर चौदहवें सर्ग की अर्जुनोक्ति पर्यन्त कथांश वीररस का पूर्ण व उचित परिपाक कर रहा है।

वनेचर के लौटने पर किरातराज के आदेश से युद्धार्थ प्रेषित किरात सेना के साथ अर्जुन के युद्धप्रसंग में महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य के अंगी वीररस का एक और नितान्त प्रभविष्णु चित्र उपस्थित किया है। प्रलयकालीन झंझावात की भाँति घनघोर गर्जन करने वाली सेना के विकराल रूप को देखकर भी हमारा महाकाव्य नायक स्वाभिमान एवं

तेज की साक्षात् प्रतिमा प्रतीत होता है :

ततः सदर्पं प्रतनुं तपस्यया मदस्रुतिक्षाममिवैकवारणम्।
परिज्वलन्तं निधनाय भूभृतां दहन्तमाशा इव जातवेदसम्।।

किराता० १४.३५

महाकवि द्वारा उसके लिए प्रयुक्त 'अनादरोपात्तधृतैकसायकत्व' निवातनिष्कम्पसमुद्र की भाँति अलंघनीयत्व, महाभराजगती का उद्धार करने वाले महावराह के समान महर्षभस्कन्धत्व एवं मनुष्य रूप में पुरातन पुरुषत्व आदि विशेषण अर्जुन का ही क्या मानो भवभूति की 'वीरोरसः किमयमित्युत्दर्प एव' पंक्ति में प्रतिपाद्य साक्षात् वीररस का सजीव बिम्ब उपस्थित करते हैं। उत्साह की साक्षात् मूर्ति पार्थ का शरीर यद्यपि लम्बे तप के कारण क्षीणतम हो चुका है तथापि रणोत्साह के कारण उसका देह तथा उसके अभिप्राय को जानने वाला कवच अत्यन्त दृढ़ व सघन हो उठा है:

त्रयीमृतूनामनिलाशिनः सतः प्रयाति पोषं वपुषि प्रहृष्यतः।
रणाय जिष्णोर्विदुषेव सत्वरं घनत्वमीये शिथिलेन वर्मणा।।

किराता० १४.४८

प्रथमगणों को देखते ही वह अर्जुन बाणों से दिशाओं को समेटता हुआ सा, सूर्य की प्रभा को फेंकता हुआ सा, वायु को व्याकुल करता हुआ सा और सशैलाक्षिति को कंपाता हुआ सा शत्रु की ओर चल पड़ा :

दिशः समूहन्निवविक्षिपन्निव प्रभां रवेराकुलयन्निवानिलम्।
मुनिश्चचाल क्षयकालदारुणः क्षितिं सशैलां चलयन्निवेषुभिः।।

किराता० १४.५०

शत्रु पर विजय पाने के लिए उत्साही अर्जुन के बाणों ने किरातसेना

के प्रत्येक प्रमथ को इस प्रकार से संकुचित कर दिया जिस प्रकार चन्द्रमा की किरणें पंकजों की पंखुडियों को संकुचित कर देती हैं :

समुज्झिता यावदराति निर्यती सहैव चापान्मुनिबाणसंहतिः।
प्रभा हिमांशोरिव पङ्कजावलिं निनाय सङ्कोचमुमापतेश्चमूम्।।

किरात० १४.५६

किरातसेना को अपने शरों की वर्षा से त्रस्त करने वाले जिष्णु के पराक्रम से डरी हुई विजयश्री अन्त में किरातसेना के पक्ष का परित्याग करने को बाध्य हो ही गयी :

प्रविततशरजालच्छन्नविश्वान्तराले
विधुवति धनुराविर्मण्डलंपाण्डुसूनौ।
कथमपि जयलक्ष्मीर्भीतभीता विहातुं
विषमनयनसेनापक्षपातं विषेहे।।

किरात० १४.६५

वीररस की सर्वांश अभिव्यक्ति में ओजःसम्पन्न इस युद्धवर्णन में महाकवि भारवि ने अपने काव्यनायक अर्जुन के असाधारण पराक्रम को प्रदर्शित किया है जिससे सम्पूर्ण कृति का अंगी वीररस मुखर हो उठा है।

रसपरिपाक के धनी महाकवि भारवि ने अंगीवीररस की सर्वांगपुष्टि का निदर्शन प्रस्तुत करते हुए किरातराज को अर्जुन के समक्ष उपस्थित करके अपने कुशल कृतिकार रूप को उजागर कर दिया है। वीररस के प्रतिनायक रूप में भारवि ने किरातराज के पराक्रम का जहाँ एक ओर सजीव बिम्ब उपस्थित किया है वहीं दूसरी ओर अपने काव्यनायक अर्जुन के असाधारण पौरुष के प्रदर्शन में उन्हें पूरी सफलता मिली है। इसके लिए कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं :

विफलीकृतयत्नस्य क्षतबाणस्य शम्भुना।
गाण्डीवधन्वनः खेभ्यो निश्चक्राम हुताशनः।।

किराता० १५.४६

"इस किरात के तेज को किसी दिव्यास्त्र के द्वारा ही निवारित किया जा सकता है"– ऐसा सोचकर अर्जुन अस्त्रयुद्ध करना ही उचित समझता है। भारवि ने किरात और अर्जुन के इस अस्त्रयुद्ध में प्रस्वायन, सर्प, गरुड़ आग्नेय तथा वारुणास्त्र जैसे असाधारण साधनों का व्यापक प्रभाव वर्णित किया है। दावानल के धूएँ के समान धूसर वर्ण की, सूर्य के तेज को भी ढकने वाली प्रस्वापन नामक अस्त्र (किराता० १६.२५) की काली छाया ने किरातसेना को इस प्रकार से ढक लिया, जिस प्रकार गहन अन्धकार सम्पूर्ण वन प्रदेशों को ढक लेता है :

प्रसक्तदावानलधूमधूम्रा निरुन्धती धाम सहस्ररश्मेः।
महावनानीवमहातमिस्त्रा छाया ततानेशबलानि काली।।

किराता० १६.२६

अस्त्र युद्ध के इसी प्रसंग में जब अर्जुन नागपाशों का प्रयोग करता है तो प्राणहरण करने वाले दृष्टिविष नामक सर्पों के नेत्रों से सुवर्ण की भाँति प्रदीप्त ज्वालाएँ महान उल्काओं के समान निकलने लगतीं हैं :

जिह्वाशतान्युल्लसयन्त्यजस्त्रं लसत्तडिल्लोलविषानलानि।
त्रासान्निरस्तां भुजगेन्द्रसेना नभश्चरैस्तत्पदवीं विवव्रे।।

किराता० १६.३७

उधर किरातराज ने अर्जुन के नागपाश को काटने वाला गरुडास्त्र छोड़ा जिससे देवों के नेत्रों को भी चुंधियाते हुए सम्पूर्ण आकाशमण्डल व्याप्त हो उठा :

तमाशु चक्षुःश्रवसां समूहं मन्त्रेण ताक्ष्र्योदयकारणेन।
नेता नयेनेव परोपजापं निवारयामास पतिः पशूनाम्।।

किराता० १६.४२

युद्ध कौशल में निपुण अर्जुन ने पुनः बिना ईंधनादि सामग्री के जलने वाला आग्नेयास्त्र छोड़ा जो अपने तेज से मानों सूर्य की किरणों को भेदकर चारों ओर प्रचण्ड चिनगारियों की वर्षा करते हुए भयंकर व विशाल चट्टानों के विदीर्ण होने के समान भयंकर शब्द करता हुआ जलने लगा :

भित्त्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः।
विशीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः।।

किराता० १६.५१

आग्नेयास्त्र का व्यापक प्रभाव समाप्त करने के लिए किरातराज ने जिस वारुणास्त्र को छोड़ा उससे अग्नि की सम्पूर्ण ज्वालाएँ तुरन्त शान्त हो गयीं। इस प्रसंग में विशेष उल्लेखनीय यह है कि अपने बाणों का विनाश होते देख भारवि का काव्यनायक अर्जुन लेश भी धैर्यच्युत नहीं होता। भले ही उसका पराक्रम व्यर्थ ही रहा है किन्तु उसका उत्साह तो उत्तरोत्तर प्रगति पर ही है। अपने काव्यनायक का ओजोमय उत्साही स्वरूप प्रदर्शित करने के लिए भारवि द्वारा किया गया इसप्रकार के वीररस का उचित वर्णन पाठक की मानसिकता को नायक के साथ होने वाली सहानुभूति से जोड़ देता है।

किरात और अर्जुन के इस अस्त्रयुद्ध प्रसंग में यह तथ्य सतत स्मरणीय है कि भारवि ने प्रतिनायक की भूमिका रूप में ही यहाँ किरात को उपस्थित नहीं किया है बल्कि वह साधक पार्थ का इष्टदेव भी है। यही कारण है कि किरातराज, नरावतार अर्जुन के अस्त्र प्रहार को हार्दिक तुष्टि

का अनुभव व्यक्त करते हुए सहन करता है। प्रतिक्रिया रूप में वहाँ क्रोध या उपताप नहीं है। अपितु भगवान् का भक्त को मिलने वाला प्रसाद ही वहाँ प्रदर्शित होता है। हमारे इस कथन की पुष्टि भारवि के इस श्लोक से हो रही है :

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्नामहतां हि वृत्तिः।।

किराता० १७.२३

अर्थात् किरातवेशधारी शंकर अर्जुन के प्रति प्रसन्नचित्त हो क्रोध नहीं करते क्योंकि वे तो आप्तपुरुष थे अतः उनमें विकार आता ही कैसे? ठीक ही है महान् लोगों की चित्तवृत्तियों को भला कौन जान सकता है? और भी सम्पूर्ण युद्ध प्रसंग में शंकर की अर्जुन के विरुद्ध प्रत्येक प्रतिक्रिया अवास्तविक (लीला) ही है। यही विस्मयकारी युद्ध वर्णन जहाँ अंगीवीररस का पर्याप्त पोषण कर रहा है वहीं पाठक की मानसिकता को उस सम्बन्ध से जोड़ देता है जिसका रहस्य शंकर जी के प्रसन्न हो जाने पर खुलता है, अर्थात् पाशुपतास्त्र प्रदान करने वाले शंकर जी ने स्वभक्त अर्जुन की पात्रता को जानने के लिए ही युद्ध किया था, वास्तव में तो वे जानते थे कि अर्जुन 'नर' के अवतार हैं।

बदरीतपोवननिवासनिरतमवगात मान्यथा।
धातुरुदयनिधने जगतां नरमंशमादिपुरुषस्य गां गतम्।।

किराता० १२.३३

इसप्रकार अस्त्रयुद्ध के समग्र प्रकरण पर दृष्टिपात करके हम कह सकते हैं कि हमारा कृतिकार अपने काव्य के अंगी वीररस के पोषण में अपनी प्रतिभा का समुचित प्रयोग करके रसौचित्य का सम्यक् परिपाक

करने में पूर्ण सफल हुआ है।

अस्त्रयुद्ध के अनन्तर बाणयुद्ध के प्रसंग में भी महाकवि भारवि ने **वीररस** के अनेक चित्र प्रस्तुत किये हैं। अर्जुन के बाण भूतपति के सैनिकों को इस प्रकार अपने वश में कर लेते हैं जैसे स्वभाव जीवों को अपने वश में कर लेता है :

मुनेर्विचित्रैरिषुभिः सभूयान्निन्ये वशं भूतपतेर्वलौघः।
सहात्मलाभेन समुत्पतद्भिर्जातिस्वभावैरिव जीवलोकः।।

किराता० १७.१९

हस्तलाघव से सायक प्रयोग करने वाला महान् धनुर्धर पार्थ शत्रुसेना को एक होकर भी इसप्रकार अनेक रूप में दिखाई देता है जैसे नेत्र रोगपीड़ित व्यक्ति को एक चन्द्रमा भी अनेक रूपों में दिखाई देता है :

स सायकान्साध्वसविप्लुतानां क्षिपन्परेषामतिसौष्ठवेन।
शशीव दोषावृतलोचनानां, विभिद्यमानः पृथगाबभासे।।

किराता० १७.२१

इस प्रसंग में भी ध्यान देने योग्य तथ्य यही है कि यद्यपि सैनिकों के विक्षोभ के कारण शंकर जी में कुछ क्षोभ दिखाई देता है फिर भी अर्जुन के प्रति प्रसन्न होने के कारण क्रोध उनके पास नहीं फटकता। ठीक भी तो है उनके आकार में केवल वैषम्य दिखाई देता था, परमपुरुष होने के कारण उनके चित्त में कोई विकार नहीं दिखाई दिया क्योंकि महान् पुरुषों की चित्तवृत्ति को पहचान भी कौन सकता है?

प्रसेदिवांसं न तमाप कोपः कुतः परस्मिन्पुरुषे विकारः।
आकारवैषम्यमिदं च भेजे दुर्लक्ष्यचिह्ना महतां हि वृत्तिः।।

किराता० १७.२३

प्रस्तुत प्रसंग में युद्ध के स्थूलबहिरंग का सूक्ष्म अन्तरंग पर पड़ने वाले प्रभाव का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण देते हुए महाकवि भारवि ने अपनी सूक्ष्म पर्यवेक्षण शक्ति का पाठकों को पर्याप्त परिचय दिया है।

बाणयुद्ध के उपरान्त महाकवि भारवि ने किरातराज से अर्जुन का नियुद्ध वर्णित किया है। उन्होंने जहाँ एक ओर नियुद्ध की त्वरितगतिता का बिम्ब उभारते हुए प्रथमगणों के हृदय में उस अद्‌भुत् वितर्क को जन्म दिया है जिसके कारण वे यह ही नहीं निर्णय कर पाते कि तपस्वी अर्जुन नीचे की ओर हैं अथवा हमारे भगवान् शशिमौलि :

अयमसौ भगवानुत पाण्डवः स्थितमवाङ्मुनिना शशिमौलिना।
समधिरूढमजेन नु जिष्णुना स्विदिति वेगवशान्मुमुहे गणैः।।

किराता० १८.९

वहीं दूसरी ओर युद्ध की भयंकरता का बिम्ब सम्पूर्ण धरित्री का सन्तुलन बनाये रखने की क्षमता वाले भूभृत हिमाचल की उन विविधगतियों में मूर्त हो उठा है जिनका वर्णन महाभारत के निम्नलिखित श्लोक में किया गया है :

प्रचलिते चलितं स्थितमास्थिते विनमिते नतमुन्नतमुन्नतौ।
वृषकपिध्वजयोरसहिष्णुना मुहुरभावभयादिव भूभृता।।

महा० भीष्मपर्व १८.७८

अर्थात् वृषध्वज व कपिध्वज के भार को सहन न करते हुए असहिष्णु हिमाचल बार-बार अपने विनाश के भय से उनके चलने पर चंचल हो उठता था, स्थिर होने पर स्थिर हो जाता था, आक्रमण करने पर नत हो जाता था और ऊपर उठने पर ऊपर उठ जाता था।

प्रसाद और ओज गुणों से सम्पन्न रसानुरूप भाषा में वीररस का यह

चित्र वस्तुतः कवि के **रसौचित्य** की परख करने वाले प्रत्येक पारखी के लिए श्लाघनीय व समर्हणीय रूप में परिलक्षित होगा।

इसप्रकार महाभारत की ....."यत्रपार्थोधनुर्धरः। तत्र श्रीर्विजयोभूतिर्ध्रुवानीतिर्मतिर्मम उक्ति का चारित्र्यार्थ्य सिद्ध करते हुए महाकवि ने वीररस के परिपाक रूप में अर्जुन के 'विजय' नामकी सार्थकता भी सिद्ध कर दी है और अपने महाकाव्य की सुखान्तता का पोषण भी कर दिया है।

किरात और अर्जुन के युद्धप्रसंग का रसगत दृष्टि से समीक्षण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि महाकवि भारवि ने वीररस को अंगीरस मानकर ही सम्पूर्णकथानक का निबन्धन किया है, अन्य रसों का यत्र-तत्र किया गया प्रयोग अंगीवीररस का पोषण करता है। आगामी प्रकरण में हम वीररस के अंगरूप में प्रयुक्त श्रृंगार, रौद्र, भयानक, अद्‌भुत्, बीभत्स तथा वात्सल्य रस के औचित्य की चर्चा कर रहे हैं-

महाकवि भारवि के महाकाव्य किरातार्जुनीय का अंगरस के औचित्य की दृष्टि से एक प्रमुख प्रकरण वह है जिसमें भारवि ने अपने काव्यनायक की चारित्रिक उदात्तता को व्यक्त करने के लिए अपनी कृति में सात, आठ, नौ तथा दसवें सर्ग गुम्फित किये हैं। यह प्रसंग अप्सराओं की जलक्रीड़ा, रतिक्रीड़ा तथा मदिरापानादि अन्य प्रकार की विलासमयी क्रीड़ाओं का बिम्ब विधान करने के कारण **श्रृंगार रस प्रधान** है। भारवि की कृति में यह अप्सरःप्रसंग एक ओर अर्जुन के कामविजयी साधक रूप को प्रकट करता है तो दूसरी ओर भारवि की रसौचिती का महत्वपूर्ण निदर्शन प्रस्तुत करता है। साधक अर्जुन की साधना के मार्ग में सर्वप्रथम बाधक रूप में श्रृंगार व विलासिता की विपुल सामग्री का संयोजन करते हुए महाकवि ने अपनी मौलिकता से अप्सरःप्रसंग का गुम्फन किया है। भारतीय संस्कृति की दीर्घकालीन परम्परा में साधना में बाधाओं की

परिस्थिति व उन्हें तिरस्कृत करके सिद्धि की प्राप्ति का यत्र तत्र सर्वत्र प्रतिपादन हुआ है। भारवि का अर्जुन भी ऐसा ही साधक है जो सम्पूर्ण बाधाओं पर विजय पाकर अपना लक्ष्य प्राप्त करता है। महाकवि भारवि की सिद्ध लेखनी ने इस प्रसंग में यूँ तो श्रृंगाररस में अनेक बिम्ब उभारे हैं किन्तु हम उन्हीं प्रमुख अंशों को यहाँ विवेचित करेंगे जो हमारे काव्यनायक के धैर्य, शौर्य–आदि गुणों की भरपूर अभिव्यक्ति करा रहे हैं।

इन्द्रप्रेषित अप्सराओं ने श्रृंगारोचित अनेक उद्दीपन सामग्रियों का उपभोग करने के उपरान्त जब अर्जुन को विचलित करने की इच्छा से उसके आश्रम की ओर बढ़ना आरम्भ किया तब उनके चरण नितम्बों के पृथुल होने के कारण धरती पर धीरे धीरे पड़े। अपने कृत्रिम प्रलोभनों से मोहित करने वाली उन अप्सराओं में अर्जुन को देखते ही कामदेव वलात् अवतीर्ण हो गया। ठीक भी है यौवन की मधुर रूपश्री मन को हर ही लेती है :

अथ कृतकविलोभनं विधित्सौ युवतिजने हरिसूनुदर्शनेन।
प्रसभमवततार चित्तजन्मा हरति मनो मधुरा हि यौवनश्रीः।।

किराता० १०.१७

गन्धर्वों द्वारा वीणा और मृदंग के नाद से छहों ऋतुओं का जो कृत्रिम व क्रमिक विकास हुआ उसका कोई प्रभाव अर्जुन को विचलित न कर सका :

बलवदपि बलं मिथो विरोधि प्रभवति नैव विपक्षनिर्जयाय।
भुवनपरिभवी न यत्तदानीं तमृतुगणः क्षणमुन्मनीचकार।।

किराता० १०.३७

अर्जुन को लक्ष्यभ्रष्ट करने के उद्देश्य से एक अप्सरा ने अपनी सखी का कृत्रिम सन्देश उसके सम्मुख व्यक्त करते हुए कहा कि मेरी सखी ने

कोमल व सुगन्धित पुष्पों की शय्या छोड़कर नूतन पल्लवों से युक्त धरित्री पर सोने का विचार किया परन्तु उस पर भी अधिक दाहकता का अनुभव करके वह अब तुम्हारे सहज सुखदायी एवं शीतल अंक में सोने की इच्छा कर रही है :

अचकत सपल्लवां धरित्रीं मृदुसुरभिं विरहय्य पुष्पशय्याम्।
भृशमरतिमवाप्य तत्र चास्यास्तव सुखशीतमुपैतुमङ्कमिच्छा।।

किराता० १०.४९

इस सन्देश को सुनकर भी जब तपस्वी अर्जुन मौन ही बना रहा तब वही सन्देशवाहिका पुनः कहती है कि "कठोरता छोड़िये, कुछ तो बोलिए, तपस्वियों का हृदय तो करुणा से भरा होता है। भाग्यहीन व्यक्ति ही प्राप्तवस्तु की उपेक्षा किया करते हैं :

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम्।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे।।

किराता० १०.५१

एक अन्य अप्सरा ने विलासपूर्वक अपने कटिभाग को हिलाकर अर्जुन पर अपने कटाक्षों को चलाया (किराता० १०.५२) हाथी के गण्डस्थल के समान स्तनों के भार से झुकी हुई एक अप्सरा अर्जुन के सम्मुख जंभाई लेने लगी (किराता० १०.५३)। एक अन्य अप्सरा का नीवीबन्धन शिथिलित होने के कारण नीचे को सरकने लगा किन्तु करधनी में अटक जाने के कारण वह वहीं रुक गयी (किराता० १०.५४)। एक अन्य अप्सरा अर्जुन को विचलित करने के लिए कठोर भाषा का प्रयोग करती हुई कहने लगी कि 'तुम्हारे मन में यदि शान्ति है तो धनुष किसलिए धारण किये हुए हो। हे शठ! मुझे तो तुम विषयाभिलाषी जान पड़ते हो न

कि मुमुक्षु। निश्चय ही तुम्हारे हृदय में कोई अन्य हृदयेश्वरा है जो अन्य किसी कामिनी को स्थान नहीं देना चाहती :

यदि मनसि शमः किमङ्ग चापं शठ विषयास्तव वल्लभा न मुक्तिः।
भवतु दिशति नान्यकामिनीभ्यस्तव हृदये हृदयेश्वरावकाशम्।।

किराता० १०.५५

इसप्रकार की ईर्ष्या युक्त बातें कहकर एक सुन्दरी ने गुरुजनों की लज्जा व अपनी मानमर्यादा की कोई चिन्ता न करके अपने हाथों से कानों पर रखे हुए कमलपत्र का अर्जुन के वक्षस्थल पर प्रहार किया :

इति विषमितचक्षुषाभिधाय स्फुरदधरोष्ठमसूयया कयाचित्।
अगणितगुरुमानलज्जयाऽसौ स्वयमुरसि श्रवणोत्पलेन जघ्ने।।

किराता० १०.५६

इन सभी अप्सराओं ने अर्जुन के सम्मुख अनेक दीनता भरी बातें कहीं, लज्जा का भी परित्याग किया, आँसू तक भी बहाये (किराता० १०.५८) किन्तु भारवि का कामविजयी अर्जुन तनिक भी नहीं हिल सका। देवांगनाओं की सभी चेष्टाएँ व्यर्थ हो गयीं। सच भी तो है महान पुरुषों के मन में जब तक अमर्ष की अग्नि धधकती रहती है तब तक सुख की अभिलाषा को अवसर कहाँ :

ज्वलयति महतां मनांस्यमर्षे न हि लभतेऽवसरं सुखाभिलाषः।।

किराता० १०.६२

श्रृंगाररस से परिपूर्ण इस अप्सरःप्रसंग में महाकवि भारवि वे अपने दिव्य काव्यनायक की चारित्रिक परीक्षा के लिए दिव्यकोटि की देवांगनाओं का चयन किया है तथा इसप्रकार के विलासभरे चित्र उपस्थित किये हैं जिनसे पाठक को अर्जुन की तटस्थता का भरपूर परिचय मिल सके। साथ

ही इस प्रयोग के औचित्य का प्रत्यक्ष निदर्शन भी प्राप्त हो रहा है। जब हम इस प्रसंग का काव्यशास्त्र के शब्दों में रस की दृष्टि से समीक्षण करते हैं तो यहाँ मुख्यरस श्रृंगार है जो महाकाव्य के अंगीवीररस का अंगरूप में, पोषक बनकर आया है। अप्सराओं के हृदय में उत्पन्न होने वाले रतिस्थायी भाव का आलम्बन अर्जुन है। अप्सराओं का मार्ग में आते हुए पुष्पावचय, जलक्रीड़ा, सायंकाल, चन्द्रोदय, पानगोष्ठी, सुरत प्रभातादि का वर्णन तथा छहों ऋतुओं का श्रृंगारी वर्णन उद्दीपन हैं। अप्सराओं के द्वारा आँखों का चलाना अपने कानों पर रखे हुए कमल पुष्प का प्रहार करना आदि अनेक चेष्टाएँ अनुभावस्थानीय हैं। अपनी सफलता न होती देखकर अप्सराओं के मन में अर्जुन के प्रति होने वाले ईर्ष्या, अमर्ष, अपलाप व अवहित्था आदि अनेक संचारीभाव हैं।

फलतः उक्त सभी सामग्रियों से युक्त श्रृंगाररस का व्यंजनाशक्ति के द्वारा यहाँ उन्मीलन हो रहा है। शब्दान्तर से कहें तो भारवि ने अपने पाठक की मनोवैज्ञानिकता से जुड़ने में अधिकतम असाधारण सफलता प्राप्त की है।

श्रृंगाररस के औचित्य की चर्चा करते समय हम देखते हैं कि कृतिकार से कहीं कहीं चूक भी हो गयी है। रसोपलब्धि के विषय में काव्यशास्त्र जगत् के अनेक आचार्यों (भामह, दण्डी, उद्भट, मम्मट तथा विश्वनाथ।) ने जिन आधारभूत नियमों का संग्रह किया है उनमें से अधिकांश नियमों का यद्यपि भारवि ने प्रयोग करके अपने काव्य को सरस व उपादेय बनाया है तथापि कुछ ऐसे स्थल अवश्य देखे जा सकते हैं जिनके कारण सम्पूर्ण कृति में विवेचित अंगीवीररस का अंगातिविस्तृति

अकाण्डे प्रथनच्छेदावङ्गस्याप्यतिविस्तृतिः।।

मम्मट : का० प्र० ७.६२

नामक दोष तो उजागर होता ही है श्रृंगाररस की अनुभूति करने वाला पाठक भी मूलकथा से कटकर अब ऊबने लगता है। ऐसे प्रसंगों की संक्षिप्त चर्चा यहाँ अनुचित न होगी :

प्रथम तो अप्सराओं की यात्रा वाले सप्तम, अष्टम, नवम तथा दशम सर्गों में उपवनों की शोभा, वनविहार करती हुई अप्सराओं का परस्पर संवाद, जलक्रीड़ा करती हुई देवांगनाओं की शोभा, सायंकाल की शोभा, चन्द्रोदय की शोभा, अप्सराओं की रतिक्रीड़ा, मदिरापान तथा प्रभात आदि का बहुत अधिक विस्तार के साथ वर्णन है। जो पाठक को रसोपलब्धि में बाधक ही जान पड़ता है। प्रतीत होता है कि महाकवि ने यहाँ अपना पाण्डित्य प्रदर्शित करने के लिए यह सब कुछ रचा है।

फलतः रस के औचित्य की दृष्टि से विचार करने पर उक्त प्रसंगों का अतिविस्तार अनुचित ही कहा जायेगा।

अप्सरःप्रसंग का द्वितीयरस दोष यह भी है कि कृतिकार अप्सराओं के सौन्दर्यवर्णन में इतना आसक्त हुआ कि काव्य के प्रधान नायक को बिल्कुल भूल ही बैठा। दूसरे शब्दों में कहें तो अप्सराओं की उद्दीपन सामग्री का चित्रण अर्जुन के आश्रम से बाहर हुआ है तथा अर्जुन मानों भारवि की दृष्टि में विस्मृत ही हो गया है। बहुत ही रसपोषक हो जाता यदि महाकवि अप्सराओं की यात्राप्रसंग में आने वाली सम्पूर्ण उद्दीपन सामग्री को अपने काव्यनायक के समक्ष ही प्रस्तुत करता। इससे महत्वपूर्ण लाभ यह होता कि अनेक आलम्बनों उद्दीपनों के मध्य में भी अर्जुन के तटस्थ रहने तथा लक्ष्यारूढ़ होने आदि जैसे और भी अनेक नायकोचित गुण सहज ही में व्यक्त हो जाते। भारवि की इसी चूक का परिणाम रसभंग का प्रमुख कारण है। अनौचित्य, जो अब चुभने लगा।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि उक्त प्रसंग, अपने अतिविस्तार

के कारण जहाँ सदोष है वहीं काव्यनायक की जितेन्द्रियता, तटस्थता, तथा लक्ष्य के प्रति जागरूकतादि अनेक गुणों को श्रृंगार रस के माध्यम से अभिव्यक्त करने में बहुत चमत्कारी व सफल है। संक्षेप में यही अप्सरः प्रसंग की औचित्यपूर्ण समीक्षा है।

अंगरसों के विवेचन में दूसरा रस रौद्र है। यूँ तो सम्पूर्ण युद्धप्रसंग में अनेक स्थानों पर अर्जुन का रौद्ररूप आविर्भूत होता है किन्तु सत्रहवें सर्ग में वर्णित अर्जुन का रौद्ररूप अपने साथ विजय का सन्देश लाता है। इसीलिए हम भारवि के शब्दों में इस रौद्र रस का सजीव चित्रण प्रस्तुत कर रहे हैं –

किरात के द्वारा अपने सभी अस्त्रों का विनाश एवं अब से पूर्व ऐसी अप्रत्याशित पराजय न देखने के कारण अर्जुन का तेज बहुत बढ़ने लगा वे दोनों नेत्रों से क्रोधमिश्रित आँसू उसीप्रकार बरसाने लगे जिसप्रकार महानाग अपने नेत्रों से विष बरसाता है :

भूयःसमाधानविवृद्धतेजा नैवं पुरा युद्धमिति व्यथावान्।
स निर्ववामास्त्रममर्षनुन्नं विषं महानाग इवेक्षणाभ्याम्।।

किराता० १७.७

अत्यन्त क्रोध के कारण तपे हुए ताँबे के समान लाल नेत्रों वाले अर्जुन के मुख को मानों धूप ने पसीना उत्पन्न करते हुए धो दिया।

तस्याहवायासविलोलमौलेः संरम्भताम्रायतलोचनस्य।
निर्वापयिष्यन्निव रोषतप्तं प्रस्नापयामास मुखं निदाघः।।

किराता० १७.८

क्रोधान्धकारान्तरित अर्जुन ने अपनी भृकुटि में तीन वक्ररेखाएँ धारण कर लीं :

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स बभार तिस्रः।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः।।

किराता० १७.९

किरातवेशधारी शंकर द्वारा प्रक्षिप्त बाणों को अर्जुन अत्यन्त क्रोध के कारण कुछ भी नहीं गिन रहे थे, उनका जड़वत् शरीर किसी भी प्रकार की वेदना का अनुभव नहीं कर रहा था, प्रतीत होता था मानो क्रोध ही अर्जुन को लौह कवच बनकर सहायता दे रहा था :

संरम्भवेगोज्झितवेदनेषु गात्रेषु बाधिर्यमुपागतेषु।
मुनेर्बभूवागणितेषुराशेर्लौहस्तिरस्कार इवात्ममन्युः।।

किराता० १७.४९

रौद्ररस का मूर्तबिम्ब उभारने वाले इस अंश का औचित्य हम इस रूप में देख सकते हैं कि भारवि अपने काव्यनायक में वीरता के समस्त गुणों का आधान करने के लिए क्रोधरूप को भी प्रदर्शित करना चाहता है। क्रोध वीरपुरुषों का आभूषण होता है। अर्जुन का यही क्रोध उसको उत्साहित करने में भी पर्याप्त सहायक सिद्ध हुआ है। यही कारण है कि अपने सब बाणों की समाप्ति से भी क्रोधित अर्जुन निरुत्साहित नहीं होता अपितु तदनुकूल उद्योग ही करता है।

अपने काव्यनायक का निरन्तर पौरुष व्यक्त करने वाले हमारे कुशल कृतिकार भारवि ने **भयानक रस** का भी बहुत उचित समय पर वर्णन किया है। जब अर्जुन ने अपने बाणों की वर्षा से युद्ध क्षेत्र के जीव-जन्तु तक को भी व्याकुल बना दिया तब वह किरातसेना भयभीत होकर अपने विशाल धनुषों तथा बाणादि को छोड़कर सभी दिशाओं में भागने लगती है :

अथ भूतानि वार्त्रघ्नशरेभ्यस्तत्र तत्रसुः।
भेजे दिशः परित्यक्तमहेष्वासा च सा चमूः।।

किराता० १५.१

यहाँ भयंकर बाणों की वर्षा करने वाला अर्जुन भयभीत सेना के हृदय में 'भय' स्थायी भाव को उद्‌बुद्ध करने वाला आलम्बन है और अर्जुन की भृकुटि चढ़ना, आँखों का लाल होना आदि चेष्टाएँ उद्दीपन हैं। जीवजन्तुओं का व्याकुल होना तथा किरात सेना का हथियारों को छोड़ना, अर्जुन के पराक्रम को देखकर रोमांचित होना अनुभावस्थानीय हैं। चिन्ता, दैन्य तथा ज्ञासादि संचारीभाव हैं। फलतः इस प्रसंग में भयानकरस का बहुत उचित प्रयोग हुआ है।

किरातसेना के पलायन सम्बन्धी इस प्रसंग में एक बात उल्लेखनीय है कि औचित्य सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक आचार्य क्षेमेन्द्र ने 'रिपौकरुणया' (औचित्य० का० ६, निदर्शन) कहकर शत्रु पर दया दिखलाने को हास्यास्पद कहा है किन्तु भारवि ने यहाँ भययुक्त किरातसेना पर अर्जुन की ओर से दया ही प्रदर्शित की है

खण्डिताशंसया तेषां पराङ्‌मुखतया तया।
आविवेश कृपा केतौ कृतोच्चैर्वानरं नरम्।।

किराता० १५.३

स्मरण रहे कि संस्कृतसाहित्य में अपने नायक अथवा नायकेतर पात्रों की महत्ता आदि विशेषताओं को प्रदर्शित करने के लिए कवियों को इस प्रकार के संयोजन की स्वतन्त्रता होती है। भारवि ने कवि के इस स्वातन्त्र्य का उचित प्रयोग करते हुए अर्जुन की महत्ता इस शब्दों में व्यक्त की है कि अरातियों को अपने वश में करने वाले महान् लोग जो अनुकम्पा दिखाते हैं उससे उनकी महत्ता ही प्रकट होती है :

आस्थामालम्ब्य नीतेषु वशं क्षुद्रेष्वरातिषु ।
व्यक्तिमायाति महतां माहात्म्यमनुकम्पया।।

किराता० १५.४

महान् तेजस्वी लोग पीड़ितों को अत्यन्त पीडित नहीं किया करते :

नातिपीडयितुं भग्नानिच्छन्ति हि महौजसः।।

किराता० १५.६

वस्तुतः अर्जुन जैसे महाकाव्यनायक का चरित्रांकन करने वाले अर्थ-गौरव, प्रतिपादनप्रतिभा के धनी महाकवि भारवि की दृष्टि में किरात सेना अर्जुन की रिपुकोटि में आयेगी भी क्यों? वह तो मेघनाद के "युष्मद्देहेषुलज्जां दधति परमपि सायका निष्पतन्तः। किंचिद् भ्रूभंगलीलानियमितजलधिं राममन्वेषयामि" (हनुमन्ना० १२.२)। की भाँति किरात को ही अपना प्रतिद्वन्द्वी समझता है अतः सेना की करुणा अर्जुन की हास्यता का हेतु नहीं महत्ता का ही असाधारण कारण है।

भयानक रस के औचित्य की इस चर्चा के पश्चात् हम किरातार्जुनीय के इस युद्ध प्रसंग में यत्रतत्र प्रयुक्त उस अद्भुत रस का भी दिग्दर्शन करायेंगे जो हमारे काव्यनायक के पौरुष व पराक्रम की गरिमा का प्रतीक है। कवि कहता है कि अर्जुन के शरों को देखकर प्रमथगणविस्मय करने लगते हैं कि ये शरसमूह आकाशमण्डल पृथ्वीमण्डल, दिङ्मण्डल, सूर्यमण्डल अथवा इसके धनुष से या शरीर से न जाने कहाँ कहाँ से निकल रहे हैं :

दिवः पृथिव्याः ककुभां नु मण्डलात्पतन्ति बिम्बादुत तिग्मतेजसः।
सकृद्विकृष्टादथ कार्मुकान्मुनेः शराः शरीरादिति तेऽभिमेनिरे।।

किराता० १४.५३

अद्भुत रस का ही द्वितीय प्रभावी प्रयोग हमें किरातार्जुनीय के

सोलहवें सर्ग के प्रारम्भिक तेईस श्लोकों में बड़े व्यापक परिवेश में दिखाई देता है। जहाँ शक्ति के ह्रास के किसी कारण की उपस्थिति न होने पर भी अपना पराभव होता देख वह अर्जुन विस्मय से भर जाता है और अनेक तर्क-वितर्कों के जाल में पड़कर एक बार अपने को असहाय सा देखने लगता है। वह सोचता है कि यहाँ न तो अपनी ऊँचाई से पर्वतों को भी तिरस्कृत करने वाले नागराजों का भ्रमण हो रहा है (किराता० १६.२), न बादलों के समान गम्भीर गर्जन करने वाले रथ धरती पर घूम रहे हैं (किराता० १६.६) न यहाँ रक्त नदियों के तट रक्त के लोथड़ों से ऊंचे हो रहे हैं (किराता० १६.१०) और न अपार संख्या में कट-कट कर प्राण त्यागने वाले किन्तु जीभ लपलपाते हुए योद्धाओं के सिर मुहुंबाये दीख रहे हैं (किराता० १६.१६)। फिर क्या कारण है कि मेरी शक्ति जो कभी महारथियों के दुर्वीर्य को भी ध्वस्त कर देती थी, वह आज चन्द्रमा के तेज से सूर्य की प्रभा की भाँति लुप्त हो रही है। क्या ये कोई माया है या मेरा ही मतिभ्रम है, मेरा पराक्रम नष्ट हो गया है या मैं ही कुछ और बन गया हूँ मेरे गाण्डीव से छोड़े गये बाण, क्या कारण है कि इस किरात पर अपना पराक्रम नहीं दिखा पा रहे हैं? (किराता० १६.१८)

इसप्रकार अंगरूप में अद्‌भुत् रस का व्यापक बिम्ब उभारते हुए महाकवि भारवि ने अपने अद्‌भुत् कौशल से इस भीषण परिस्थिति में भी अपने काव्यनायक के चरित्र को संवारते हुए अंगीवीररस के पोषण में अर्जुन के मुख से कहला दिया कि 'रणमद में मत्त इस दिव्य किरात के अनिवार्य बल को दिव्यास्त्र से ही मैं निवारण करूँगा क्योंकि छोटे से छोटे शत्रु की भी बुद्धि (उपेक्षित होने पर) रोग के समान महान अपकार को जन्म देती है (किराता० १६.२४)। तात्पर्य स्पष्ट है कि विस्मय की विपुलसामग्री भी साधक अर्जुन को विचलित नहीं कर पायी। वह शत्रु को दिव्य समझता हुआ दिव्यास्त्रों के प्रयोग में प्रवृत्त हो उठा। यही तो है किसी

महाकवि के महाकाव्य के नायक का अद्भुत् पौरुषोत्कर्ष। जो रसपोषण के उचित माध्यम से रसौचिती का सफल निदर्शन प्रस्तुत किया करता है।

एक शब्द से भी रस की अभिव्यक्ति कराने वाले महाकवि भारवि ने अपनी कृति में **बीभत्स रस** का उस समय प्रयोग किया है जब किरात और अर्जुन के मध्य में मृत्यु को प्राप्त हुए वराह ने पृथ्वी पर गिरकर उष्णशोणित से आर्द्र (लथपथ) अपने पंजों व दाढ़ों के अग्रभाग की चोट से पत्थर की शिलाओं को फोड़ते हुए क्षणभर के लिए अर्जुन की ओर देखा और फिर गम्भीर गर्जन करते हुए उसने अपने प्राण त्याग दिये :

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे।।

किराता० १३.३१

यहाँ बीभत्सरस का दृश्य उपस्थित करने के लिए 'उष्णशोणितार्द्रः' पद ही पर्याप्त है। इसी से पाठक के मन पर घायल अवस्था को प्राप्त हुए व खून से सने हुए मृत वराह का मूर्तबिम्ब उभर रहा है। फलतः यहाँ बीभत्सरस का समुचित प्रयोग हुआ है।

रसों की गणना करते समय कुछ आचार्यों ने

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः।
स्थायी वत्सला स्नेहः पुत्राद्यालंवनं मतम्।।

साहि० दर्प० ३.२५१.५४

वत्सल रस की भी सत्ता स्वीकार की है। भारवि ने भी भगवान् शंकर द्वारा अर्जुन के प्रति कहे गये शब्दों में इस रस की पूर्ण अभिव्यक्ति की है। अर्जुन किरात को अपना प्रतिद्वन्द्वी मानकर शरवर्षा करता है किन्तु "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" जैसी स्तुतियों से स्तोतव्य किरातवेश में

छिपे हुए भक्त-वत्सल भगवान् शंकर उसे इसप्रकार सहन करते हैं जिस प्रकार बाल्यावस्था में अत्यन्त प्रिय गोदी में बैठे हुए तथा किसी प्रियवस्तु की इच्छा करने वाले अपने अकेले पुत्र के अविनय को उसका पिता सहन करता है :

अभिलषतः उपायं विक्रमं कीर्तिलक्ष्म्यो
रसुगममरिसैन्यैरङ्कमभ्यागतस्य ।
जनक इव शिशुत्वे सुप्रियस्यैकसूनो-
रविनयमपि सेहे पाण्डवस्य स्मरारिः।।

किराता० १७.६४

इसी प्रकार वात्सल्य रस का द्वितीय निदर्शन तब देखा जा सकता है जब अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न हुए भगवान् शशिमौलि विस्मित होकर उसे छाती से लगाकर गाढ़ आलिंगन करते हैं :

विस्मितः सपदि तेन कर्मणा कर्मणां क्षयकरः परः पुमान् ।
क्षेप्तुकाममवनौ तमक्लमं निष्पिपेष परिरभ्य वक्षसा।।

किराता० १८.१३

अर्जुन के पितृतुल्य भगवान् शंकर द्वारा अपने पुत्र को वात्सल्य प्रदान करना जहाँ वत्सलरस का बिम्ब पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करता है वहीं कवि द्वारा किया गया उसका काव्यात्मक प्रयोग पाठक को कलात्मक सन्तोष देता है।

इसप्रकार अंगीवीररस के पोषण में अंगरूप में प्रयुक्त अन्यरस का समुचित प्रयोग कृतिकार के उस स्वरूप की पुष्टि करता है, जिसकी रस सम्प्रदाय के प्रसिद्ध रससिद्ध महाकवियों के परीक्षण में सम्मानजनक स्थान निर्धारित करते समय अपेक्षा होती है।

अलंकारौचित्य :

जहाँ तक महाकवि भारवि द्वारा विवेचित विविध अलंकारों के औचित्य का प्रश्न है वह संस्कृत साहित्य के अन्य कवियों की अपेक्षा इनकी कृति में संख्या के आधिक्य की दृष्टि से तो सर्वप्रथम प्रयुक्त हुआ ही है, रस व भाव की दृष्टि से भी अपनी गम्भीरता बनाए हुए है। अर्थान्तरन्यास जैसे अर्थालंकार का तो भारवि ने अपने यहाँ लगभग११९ बार प्रयोग करके अनेक परवर्ती कवियों की दृष्टि में सम्माननीय पद प्राप्त किया है। काव्यशास्त्रीय चर्चा के आदि ग्रन्थ अग्निपुराण से आधुनिक काल तक संस्कृत तथा हिन्दी के अनेक आचार्यों ने अलंकारशास्त्र का विस्तृत किन्तु गम्भीर अध्ययन करके जिन अलंकारों की संख्या (भामह ३८, दण्डी ३५, वामन ३२, रुद्रट ६२, कुन्तक २०, भोज ७२, मम्मट ६१, विश्वनाथ ८६, अपपय्य दीक्षित १२५, केशव ४०, चिन्तामणि ७४, भूषण १०० तथा भिखरीदास ११८) में न्यूनाधिक संशोधन परिवर्धन किया, उनमें से अधिकांश अलंकारों का प्रयोग भारवि के किरातार्जुनीय में ही प्राप्त होता है। अपनी कृति के अंगीवीररस तथा अन्य अंगरसों के पोषण में महाकवि ने शोभावर्धक अलंकारों का जिस स्वाभाविकता के साथ प्रयोग किया है वह अलंकार गत समीक्षा करने वालों के लिए अपनी उत्कर्षधर्मिता के कारण आकर्षण का केन्द्र है। द्रौपदी तथा भीमसेन की उत्साहसम्पन्न उक्तियों में अर्थान्तरन्यास, काव्यलिंग, उत्प्रेक्षा, परिकर तथा उपमा जैसे अलंकारों (३-शब्दालंकार ६० अर्थालंकार तथा ७ चित्रप्रबन्ध) का समुचित प्रयोग जहाँ वीररस का पोषण कर रहा है वहीं अप्सर:प्रसंग के अनेक श्रांगारिक दृश्यों में रूपक, तुल्ययोगिता, श्लेष तथा विभावनादि श्रृंगारोचित अलंकारों से महाकवि की रसपोषिका अलंकारौचिती का प्रत्यक्ष परिचय मिल रहा है। किरात और अर्जुन के युद्ध प्रसंग में तो भारवि ने जिस प्रतिभा के साथ सटीक अलंकारों का गुम्फन किया है वह भावी कवियों के लिए संकेतक का काम करता है

आधुनिक युग के प्रसिद्ध समीक्षक आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी के मतानुसार अर्थान्तरन्यास, उत्प्रेक्षा, उल्लेख, अतिश्योक्ति, तुल्ययोगिता, दृष्टान्त, उदात्त तथा समुच्चय आदि अलंकारों का प्रयोग वीररस के प्रसंग में शोभाधायक व उत्कर्षाधायक होता है (साहित्या० पृ० ७४४ से ७६६ तक)। अलंकारों के इन रसानुरूप समुचित प्रयोगों के कारण ही भारवि को अलंकारवादी परम्परा का जनक कहा जा सकता है।

यहाँ हम अपने औचित्यविमर्श के कलेवर को 'अतिविस्तार' दोष से बचाते हुए भारवि के समस्त अलंकारों पर विचार न करके केवल उन्हीं अलंकारों के औचित्य की व्याख्या करेंगे जो प्रतिपाद्य रस की अभिव्यक्ति कराने में अत्यन्त सफल हैं तथा भारवि की अर्थगौरवपूर्ण वाणी से स्वतः उद्भूत् हुए हैं। ऐसे अलंकारों में शब्दालंकार की दृष्टि से अनुप्रास व यमक तथा अर्थालंकारों में अर्थान्तरन्यास, निदर्शना, उत्प्रेक्षा, उपमा, काव्यलिंग, परिकर, रूपक के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। शब्दालंकारों में अनुप्रास का निदर्शन देखिए :

(क) अनुप्रास :

संस्कृत तथा हिन्दी भाषा के अनेक कवियों ने अनुप्रास अलंकार के द्वारा वीररस के अनेक प्रभावी चित्र उपस्थित किये हैं। भारवि इन कवियों में अग्रणी हैं। उन्होंने किरात और अर्जुन के युद्धप्रसंग में अनुप्रास अलंकार की भावानुकूल वर्णयोजना से जहाँ प्रतिनायक रूप में किरात की असाधारण वीरता को व्यक्त किया है वहीं उसके प्रतिपक्ष में अपने काव्य नायक जिष्णु के भी असाधारण पौरुषपराक्रम को तुरन्त प्रदर्शित किया है। किरात की वीरता को व्यक्त करने के लिए भारवि की रसानुकूल आनुप्रासिक वर्णयोजना १६वें सर्ग के प्रत्येक छन्द में दृष्टिगोचर हो रही है। यथा :

स भोगिसङ्गः शममुग्रधाम्नां सैन्येन निन्ये विनतासुतानाम्।

महाध्वरे विध्यपचारदोषः कर्मान्तरेणेव महोदयेन।।

किराता० १६.४८

जिष्णु द्वारा छोड़े गये सर्पों का समूह किरात की गरुड़सेना से इस प्रकार शान्त हो गया जिस प्रकार किसी महायज्ञ में कर्मस्थलनरूपी दोष किसी महासामर्थ्यशाली प्रायश्चित्त के प्रभाव से शान्त हो जाता है। यहाँ महाकवि द्वारा 'धकार' व संयुक्त व्यंजन 'न्यकार' के असकृत् प्रयोग से तथा म, घ जैसे ओजगुणाभिव्यंजक महाप्राण वर्णों की योजना से वीररस पुष्ट होता है तथा काव्यसमीक्षकों की दृष्टि में काव्यसौन्दर्य भी पर्याप्त मात्रा में बढ़ जाता है। क्योंकि यहाँ न केवल ओजगुण है अपितु तदनुकूल परुषावृत्तिगत वर्ण योजना भी है।

ओजः प्रकाशकैस्तैस्तु परुषा।

का० प्र० ९ उल्लास० सू० १०९

उक्त वर्णयोजना से युद्ध की भीषणता का तो प्रतिपादन हो ही रहा है, वह उपमालंकार की भी सहायिका बनकर कथ्य को गौरवशाली बना रही है।

फलतः कृतिकार यहाँ अनुप्रास अलंकार की उचित वर्णयोजना में पूर्ण सफल रहा है।

किरात के प्रभाव प्रदर्शन के उपरान्त भारवि ने अपने काव्यनायक जिष्णु की असाधारण वीरता को निम्नलिखित श्लोक में प्रदर्शित किया है:

ऊर्ध्वं तिरश्चीनमधश्च कीर्णैर्ज्वालासटैर्लङ्घितमेघपंक्तिः।
आयस्तसिंहाकृतिरुत्पपात प्राण्यन्तमिच्छन्निव जातवेदाः।।

किराता० १६.५०

अपने नागपाशों के व्यर्थ हो जाने पर भी भारवि का जिष्णु थोड़ा भी

निरुत्साहित नहीं होता, बल्कि तुरन्त उस आग्नेयास्त्र का प्रयोग करता है जो अपनी भयंकरता के कारण प्राणियों के संहार की इच्छा से उर्ध्वदिशा की ओर प्रज्वलित होता हुआ प्रतीत होता था। यहाँ अलंकार प्रयोग के औचित्य की दृष्टि से देखने पर अनुप्रास अलंकार का ही औचित्य दृष्टिगत होता है। ध, र, प तथा घ वर्ण का एकाधिक बार प्रयोग एवं 'ट' जैसे मूर्धन्यस्थानीय अकेले वर्ण का प्रयोग अर्जुन के अद्‌भुत पराक्रम को व्यक्त करने में बहुत कलात्मक योग प्रदान कर रहा है। निश्चय ही भारवि का यह वृत्तानुकूल वर्ण गुम्फन रस और कथ्य दोनों ही दृष्टियों से प्रभावपूर्ण है।

(ख) शब्दालंकारों में दूसरा उदाहरण यमक के औचित्य का है :

वनान्तशय्याकठिनीकृताकृती कचाचितौ विष्वगिवागजौ गजौ।
कथं त्वमेतौ धृतिसंयमौ यमौ विलोकयन्नुत्सहसे न बाधितुम्।।

किराता० १.३६

प्रस्तुत श्लोक में यमक अलंकार का प्रयोग अभिनन्दनीय है। भारवि ने द्रुपदात्मजा के व्यक्तव्य को चमत्कारी व प्रभावशाली बनाने के लिए 'गजौगजौ' तथा 'यमौ यमौ' पदों में सभंग यमक का प्रयोग किया है। क्रमशः पहाड़ी हाथियों जुड़वें (नकुल व सहदेव) एवं सन्तोषनियम अर्थों में प्रयुक्त उक्त कोमल पदों के उचित संयोजन से कृतिकार ने युधिष्ठिर को अपने भाइयों की दुर्दशा दूर करने के लिए मानो प्रेरित किया है। यद्यपि सम्पूर्ण पद्य में अनुप्रासअलंकार कम नहीं है किन्तु अर्थ के गौरव को अनन्तगुणा बढ़ाने के लिए यहाँ जितना सटीक यमक अलंकार है उतना अन्य कोई अलंकार नहीं। इस प्रकार यहाँ यमकालंकार के उचित प्रयोग से वक्तव्य का प्रभाव व रस का पर्याप्त प्रवाह बन पड़ा है।

यमकालंकार के औचित्य की चर्चा के अनन्तर एक प्रयोग अनौचित्य का भी दृष्टव्य है :

विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।
विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणा विकाशमीयुर्जगतीशमार्गणाः।।

किराता० १५.५२

यूँ तो यह श्लोक महायमक का उदाहरण है किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि किरात और अर्जुन ही मल्लयुद्ध के लिए तैयार नहीं हो रहे हैं महाकवि का मस्तिष्क भी यमक अलंकार की महायोजना के लिए तैयार हो रहा है। इस प्रकार के प्रयत्न साध्य अलंकारों से न केवल कथ्य की गुरुता को हानि पहुँचती है अपितु काव्य की श्रव्यता भी दूषित हो जाती है। साथ ही काव्यार्थ भी शून्य में बदल जाता है।

फलतः उक्त पद्य में यमकालंकार का प्रयोग बहुत कुछ यत्नज होने से अनौचित्य की कोटि में आता है।

शब्दालंकारों की समीक्षा के इस प्रसंग में यह कह देना अनावश्यक न होगा कि वर्णों व शब्दों से खड्ग, रथ, सर्वतोभद्र, गोमूत्रिकाबन्ध तथा मुरजबन्ध जैसे अनेक प्रकार के चित्र बनने के कारण चित्रालंकार को भी आचार्यों ने शब्दालंकार का ही एक भेद माना है।

वक्रोक्तिः स्यादनुप्रासो-यमकश्लेषचित्रयुक्तः।
पुनरुक्तवदाभासः शब्दालंकृतयस्तु षट्।।

विश्वनाथ : साहि० दर्प० दशम परिच्छेद

भारवि के महाकाव्य में १५वाँ सर्ग इन चित्रालंकारों से भरा हुआ है। हम इनके समीक्षण के सम्बन्ध में यहाँ इतना ही कहना पर्याप्त समझेंगे कि इन चित्रालंकारों से महाकवि भारवि की असाधारण प्रतिभा का जहाँ भरपूर परिचय मिलता है वहीं वीररस के प्रसंग में इनका प्रयोग यत्नज होने के कारण अनुचित है, ऐसा होने से यह चित्रालंकारगुच्छ अधमकाव्य की

संज्ञा प्राप्त करता है।

शब्दचित्रं वाचचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम्।।

मम्मट : का० प्र० १.५

हमारे इस कथन की पुष्टि आचार्य सीताराम चतुर्वेदी के इस कथन से हो रही है- "चित्रालंकारों को केवल वर्णव्यायाम समझना चाहिये। इससे न अर्थ में सुन्दरता आती है और न कोई माधुर्य होता है यह वास्तव में कोई अलंकार नहीं, वर्णक्रीड़ा है (साहित्या०, पृष्ठ ७४१)।"

संक्षेप में हम कहेंगे कि काव्य के अपकर्षाधायक एवं अंगीवीररस के अपोषक होने के कारण उक्त चित्रालंकारों का प्रयोग अनौचित्य की ही कोटि में आ रहा है।

अनुप्रास व यमक अलंकारों के आधार पर भारवि की कृति की समीक्षा करने के उपरान्त हम अर्थालंकारों के कुछ निदर्शन प्रस्तुत कर रहे हैं :

अ- अर्थान्तरन्यास : भारवि की कृति में सर्वाधिक ११९ बार अर्थान्तरन्यास का सटीक प्रयोग किया गया है इसलिए सर्वप्रथम अर्थान्तरन्यास के ही कतिपय उदाहरण प्रस्तुत हैं :

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।

किराता० १.४२

प्रकृत पद्य में द्रौपदी राजा युधिष्ठिर को युद्ध के लिए प्रेरित कर रही है। द्रौपदी के "हे राजन्! शान्ति को छोड़कर शत्रुओं का विनाश करने के लिए शत्रुञ्जय तेज को धारण करो" इस विशेष कथन का "शान्ति के द्वारा मुनियों को सिद्धि प्राप्त हुआ करती है भूपतियों को नहीं" इस सामान्यकथन

से समर्थन होने के कारण यहाँ अर्थान्तरन्यास अलंकार अत्युत्तम कोटि का है। प्रस्तुत अलंकार के प्रयोग प्रसंग में यह तथ्य विशेष रूप से ध्यातव्य है कि कोई भी वक्ता अपने वक्तव्य की पुष्टि में कोई न कोई प्रमाण प्रस्तुत किया करता है। यहाँ भारवि ने द्रौपदी के अभीष्ट अर्थ की पुष्टि के लिए उसके द्वारा अर्थान्तरन्यास का उपन्यास करके मानो प्रबल प्रमाण प्रस्तुत कर दिया है। कवि की यह अलंकारौचिती इस दृष्टि से सर्वथा श्लाघनीय है।

द्वितीय निदर्शन चौदहवें सर्ग के वनेचर-अर्जुन संवाद का है :

वयं क्व वर्णाश्रमरक्षणोचिताः क्व जातिहीना मृगजीवितच्छिदः।
सहापकृष्टैर्महतां न सङ्गतं भवन्ति गोमायुसखा न दन्तिनः।।

किराता० १४.२२

प्रस्तुत पद्य में अर्जुन अपने को वर्णाश्रमरक्षक तथा किरात को जातिहीन व मृगजीवितच्छिद कहकर अपनी महानता व वनेचर की निकृष्टता सिद्ध करता हुआ वनेचर के मैत्री प्रस्ताव को ठुकरा देता है। भारवि ने अर्जुन की इस उक्ति को उत्कर्षाधायक सौन्दर्याधायक व आकर्षक बनाने के लिए अर्थान्तरन्यास अलंकार का समुचित प्रयोग किया है। "हाथी श्रृंगालों से मैत्री नहीं किया करते" इस विशेष कथन से अर्जुन के इस सामान्य कथन का कि "महान पुरुषों की नीच जनों के साथ मित्रता नहीं होती" समर्थन करके कृतिकार ने पाठक के मन पर ओजःसम्पन्न वीररस का मूर्तबिम्ब उपस्थित कर दिया है।

आ- निदर्शना :

आक्षिप्तसम्पातमपेतशोभमुद्वह्नि धूमाकुलदिग्विभागम् ।
वृतं नभो भोगिकुलैरवस्थां परोपरुद्धस्य पुरस्य भेजे।।

किराता० १६.४१

किरात और अर्जुन के अस्त्रयुद्ध प्रसंग में महाकवि भारवि अपने काव्यनायक के सर्पास्त्र प्रयोग की प्रभविष्णुता प्रदर्शित करने के लिए अनन्त आकाश को सर्पास्त्रों से आवृत बताते हुए निदर्शना अलंकार के द्वारा उसमें शत्रु से आवेष्टित नगर की अवस्था का साधर्म्य प्रस्तुत कर रहे हैं। निदर्शना की इस औचित्यपूर्ण योजना के द्वारा संचारहीन, शोभाहीन तथा अग्निधूम परिव्याप्त आकाश को शत्रु से घिरे शोभाहीन नगर के रूप में बिम्ब उभार कर काव्यकार अर्जुन के पराक्रम को तो प्रदर्शित कर ही रहा है विपक्ष की लघिमा का भी प्रत्यक्ष आभास करा रहा है।

इसप्रकार उचित प्रसंग में उचित अलंकार के विनिवेश से यहाँ काव्यार्थ सम्यक्रूपेण अलंकृत हो उठा है।

इ- उत्प्रेक्षा :

इति ब्रुवाणेन महेन्द्रसूनुं महर्षिणा तेन तिरोबभूवे।
तं राजराजानुचरोऽस्य साक्षात्प्रदेशमादेशमिवाधितष्ठौ।।

किराता० ३.३०

अर्जुन को तपस्या की आज्ञा देने वाले वेदव्यास जी अभी यह कहकर अन्तर्हित हुए हैं कि यह यक्ष तुम्हें इन्द्रकील पर्वत पर क्षणभर में पहुँचा देगा। महर्षि के इस कथन के पश्चात् ही वहाँ यक्ष आ जाता है। कवि की उत्प्रेक्षा है कि यह यक्ष नहीं था, मानो मुनि का आदेश ही शरीर धारण करके उपस्थित हुआ था। यहाँ उपमेय यक्ष में महर्षि व्यास के मूर्तिमान आदेश की सम्भावना होने से उत्प्रेक्षालंकार है। महर्षि व्यास के अलौकिक प्रभाव को काव्यात्मक उत्कर्ष देने के लिए तथा अर्थ की गुरुता को बढ़ाने के लिए महाकवि द्वारा प्रयुक्त उत्प्रेक्षा अलंकार का यह समुचित प्रयोग पाठक के मन को बरबस प्रभावित कर देता है। ऐसे अमूर्त भावों की मूर्त रूप में कल्पना करने में भारवि बहुत सिद्ध हैं।

ई- उपमा :

अथोच्चकैरासनतः पराध्र्यादुद्यन्स धूतारुणवल्कलाग्रः।
रराज कीर्णाकपिशांशुजालः श्रृंगात्सुमेरोरिव तिग्मरश्मिः।।

किराता० २.५७

प्रस्तुत श्लोक में अपने श्रेष्ठ सिंहासन से उठकर महर्षि व्यास का स्वागत करने वाले युधिष्ठिर के लिए कवि ने सुमेरुशृङ्ग से उदित होते हुए तिग्मरश्मि (सूर्य) को उपमान बनाया है जो साधर्म्य की दृष्टि से कवि के अलंकारयोजनानैपुण्य को तो प्रकट कर ही रहा है पाठक के मानसपटल पर सजीव मूर्तबिम्ब का विधान करने में भी पूर्ण सक्षम है। स्वागतार्थ उठते हुए युधिष्ठिर की दृष्टि निश्चय ही महर्षि व्यास के मुख की ओर होगी, इस दृष्टि से सूर्य के लिए तिग्मरश्मि का प्रयोग और भी अधिक महत्व रखता है।

इस प्रसंग में यह विचारणीय है कि द्वैतवन में जंगली जीवन बिताने वाले युधिष्ठिर में न तो वह तेज अनुमित हो पाता है जो सूर्य की तुलना के लिए सक्षम हो। और न युधिष्ठिर का श्रेष्ठ उच्चआसन, जिसके लिए सुमेरु जैसे कनक श्रृंग की उपमा दी गई है। कहाँ आसन की श्रेष्ठता और कहाँ सुमेरु की बहुमूल्यता दोनों में भी कोई सुन्दर साम्य नहीं जान पड़ता। अपरञ्च जिन महर्षि का स्वागत करने के लिए युधिष्ठिर खड़े हुए हैं उनकी चर्चा तक प्रस्तुत पद्य में नहीं है अपितु पाठक का ध्यान एक मात्र युधिष्ठिर की शोभा के दर्शन में व्यापृत कर दिया जाता है जो स्वागतार्ह के महत्व का प्रतिपादक न होकर स्वागत करने वाले की गरिमा को बता रहा है। सभी प्रकार की मर्यादाओं का ध्यान रखने वाले महाकवि से इस प्रसंग में प्रस्तुतार्थ की हानि कैसे हो गयी- यह विपश्चिज्जन ही जानें।

उपमा :

निर्याय विद्याथ दिनादिरम्याद्बिम्बादिवार्कस्य मुखान्महर्षेः।
पार्थाननं वह्निकणावदाता दीप्तिः स्फुरत्पद्ममिवाभिपेदे।।

किराता० ३.२५

यहाँ महाकवि ने महर्षि व्यास के मुख से निकलकर अर्जुन के मुख में पहुंचने वाली विद्या की उपमा प्रातःकाल के सूर्य की किरणों से विकसित होने वाले कमल से ही है। जिसका सफल परिणाम यह है कि विद्याप्रदाता व्यास जी की महानता, योगविद्या की तेजस्विता, नायक अर्जुन की पात्रता आदि सहज ही लक्षित हो रही है। साथ ही अर्जुन के मुख तक योगविद्या की त्वरितता को व्यंजित करने के लिए उक्त उपमा और भी अधिक रोचक बन गयी है। इस प्रकार प्रस्तुतार्थ को चमत्कारी व गौरवशाली बनाने के लिए भारवि द्वारा उपमेय व उपमान की स्वाभाविक योजना सर्वथा श्लाघनीय है।

उ- काव्यलिंग :

कृष्णद्वैपायनादेशाद् बिभर्मि व्रतमीदृशम्।
भृशमाराधने यत्तः स्वाराध्यस्य मरुत्वतः।।

किराता० ११.४६

अर्जुन मुनिवेशधारी इन्द्र से अपने धनुर्धर वेश में तपस्या करने का कारण बताते हुए कहता है कि मैं इस प्रकार के व्रत का अनुष्ठान महर्षि कृष्णद्वैपायन के आदेश से कर रहा हूँ स्वेच्छा से नहीं। साथ ही मैं अपने आराध्य इन्द्र की आराधना में रत हूँ। प्रस्तुत श्लोक में महाकाव्यप्रणेता ने इसप्रकार के व्रत को धारण करने में कृष्णद्वैपायन के आदेशरूप पदार्थ को तथा अपने आराध्य इन्द्र की आराधना में व्रतधारण रूप वाक्यार्थ को हेतुरूप में प्रदर्शित करके काव्यलिंग का उचित प्रयोग किया है। एक ही

पद्य में पदार्थ व काव्यार्थ के हेतुरूप काव्यालिंगालङ्कार की इस कलात्मक योजना ने जहाँ एक ओर काव्यनायक की श्रद्धेय के प्रति निष्ठा को स्पष्ट अभिव्यक्ति प्रदान की है वहीं दूसरी ओर तपोव्रत की अपने आराध्य के आराधन में सफलहेतुता भी सिद्ध कर दी है।

ऊ- परिकर -

महाकवि भारवि ने महाकाव्य के अर्थानुरूप परिकरालंकार का सुन्दर उदाहरण एकादशसर्ग के पैंतालीसवें श्लोक को रखा है। देवराजइन्द्र के द्वारा यह कहे जाने पर कि "मोक्षदायिनी जाह्नवी के जल से सिक्त इस विजनवन में मुक्ति तुम्हें शीघ्र मिलने वाली है। इसीलिए मोक्षसाधक के रूप में शस्त्रों का परित्याग कर दो" कपिध्वज अर्जुन अपनी प्रसन्न-गम्भीर वाणी में अपना परिचय व तपस्या का लक्ष्य बताते हुए कहते हैं :

क्षत्रियस्तनयः पाण्डोरहं पार्थो धनञ्जयः।
स्थितः प्रास्तस्य दायादैर्भ्रातुर्ज्येष्ठस्य शासने।।

किराता० ११.४५

यहाँ 'अहं' पदवाच्य से अर्जुन का अपने को क्षत्रिय, पाण्डु का तनय, (क्षत्रियों को स्वकर्त्तव्य का पाठ सिखाने वाली), पृथा का पुत्र व धनंजय कहकर जहाँ एक एक विशेषण को विविधदृष्टियों से साभिप्राय प्रयुक्त किया है वहीं अपने परिवार के दायादों से राज्यबहिष्कृत बड़े भाई के आदेशानुसार अपनी तपोनिरति बताकर मोक्षकामना से सर्वथा विरति का स्पष्ट संकेत कर दिया है। "क्षात्रधर्म में प्रवृत्त रागद्वेषकषायित हम जैसे सांसारिकों का मोक्ष में अधिकार कहाँ"? इस तात्पर्य की अभिव्यक्ति में महाकवि का काव्यार्थ सहज ही में उद्दीप्त हो उठा है। संक्षेप में साभिप्राय विशेषणों के इस समुचित प्रयोग से परिकर अलंकार की उचित योजना के द्वारा महाकवि ने काव्य के कथानक को चमत्कारी बना दिया है।

सभी अलंकारों का उदाहरण विवेचित न करते हुए अन्त में हम रूपक अलंकार के माध्यम से कवि की उस कुशलता का प्रदर्शन करना चाहते हैं जिसके द्वारा उसने प्रस्तुतार्थ में अप्रस्तुतों को समाविष्ट करके अपने काव्यार्थ के व्यापक आयाम की सृष्टि की है।

ए- रूपक :

श्रीमल्लताभवनमोषधयः प्रदीपाः
शय्या नवानि हरिचन्दनपल्लवानि।
अस्मिन्नतिश्रमनुदश्च सरोजवाताः
स्मर्तुं दिशन्ति न दिवः सुरसुन्दरीभ्यः।।

किराता० ५.२८

प्रस्तुत श्लोक में पर्वतराज हिमालय की दिव्यता प्रदर्शित करने के लिए महाकवि, स्वर्ग की सामग्रियों को उपमान बनाकर रूपक बाँधता है कि इस पर्वत के लतामण्डपरूपी भवन, प्रदीप्त औषधिरूपी दीपक, नवीन वृक्षों की पल्लवरूपी शय्याएँ तथा रतिश्रम को दूर करने वाला कमलवन का वायु – ये सम्पूर्ण सामग्रियाँ सुरसुन्दरियों को स्वर्ग का स्मरण नहीं होने देतीं। यहाँ भारवि ने वाचक शब्दों का प्रयोग न करते हुए हिमालय (उपमेय) में स्वर्गस्थ सामग्रियों (उपमान) का इस ढंग से आरोप किया है कि हिमालय को स्वर्ग मानने में किसी भी पाठक को कोई आपत्ति नहीं होती। उल्लेखनीय है कि उपमेय में बिना किसी भेद के उपमान का कलात्मक ढंग से महाकवि द्वारा किया गया आरोप प्रशंसनीय तो है ही, अभीष्ट काव्यार्थ की तीव्र अभिव्यक्ति कराने में भी बहुत सटीक है।

इस प्रकार यहाँ रूपक अलंकार का समुचित प्रयोग हुआ है।

गुणौचित्य :

काव्य में प्रयुक्त गुणतत्व के औचित्य की चर्चा यद्यपि हम प्रथम विमर्श में कर चुके हैं तथापि किरातार्जुनीय में गुणौचित्य की समीक्षा करते हुए यह तथ्य सतत स्मरणीय है कि भारतीय काव्यशास्त्र में प्रतिपादित माधुर्य, ओज व प्रसाद तीनों गुणों का भारवि ने अपने महाकाव्य में यत्र तत्र सर्वत्र प्रयोग किया है। कृति में वीररस के अंगी होने से यद्यपि तदनुरूप ओजगुण की बहुलता है तथापि प्रसंगापतित अन्यअंग रसों के पोषण में माधुर्य व प्रसादगुणों का भी प्रयोग कम नहीं है। कतिपय निदर्शन प्रस्तुत हैं।

माधुर्य :

भारतीय आचार्यों ने श्रृंगार, करुण व शान्त रस के प्रसंग में माधुर्यगुण को अधिक चमत्कारी बताया है।

करुणे विप्रलम्भे तच्छान्ते चातिशयान्वितम्।

मम्मट : का० प्र० ८.६८

किरातार्जुनीय में श्रृंगार व करुणरस के वर्णन में प्रस्तुत गुण का औचित्य द्रष्टव्य है :

परिसुरपतिसूनुधाम सद्यः समुपदधन्मुकुलानि मालतीनाम्।
विरलमपजहार बद्धबिन्दुः सरजसतामवनेरपां निपातः।।

किराता० १०.२०

नायक अर्जुन को मोहित करने के लिए देवराज इन्द्र द्वारा प्रेषित अप्सराएँ उसके आश्रम में वर्षाऋतु का कृत्रिम विकास करती हैं फलस्वरूप चारों ओर मालती की कलियाँ मुकुलित हो गयीं और धीरे धीरे बरसने वाली जल की बूंदों से धरती की धूल शान्त हो गयी। महाकवि ने श्रृंगार

रस के इस प्रसंग में माधुर्य गुण के समुचित प्रयोग से पाठक के चित्त को द्रवित करने में असाधारण सफलता प्राप्त की है। सम्पूर्ण पद्य में जहाँ ट वर्ण का नितान्त अभाव है वहीं पवर्ग, तवर्ग व रेफादि माधुर्योचित वर्णों की भरपूर योजना व पदों की असमासता व स्वल्पसमासता यहाँ दर्शनीय है। फलतः प्रस्तुतार्थ को मनोहर, सुकुमार, श्रुतिसुखद व आह्लादक बनाने के कारण यहाँ माधुर्यगुण का समुचित प्रयोग हुआ है। करुणरस के अनुरूप माधुर्यगुण की सृष्टि का उदाहरण प्रस्तुत है :

तपस्या के लिए जाते हुए अर्जुन के शोक ने शेष चारों पाण्डवों को छोड़ एक राशि होकर द्रौपदी को किस प्रकार घेर लिया इसका सजीव चित्रण भारवि की माधुर्यगुणयुक्त भाषा में हुआ है :

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे।।

किराता० ३.३५

प्रस्तुत श्लोक में सानुनासिक वर्णों की बहुलता, असमस्त पदों की अविरलता तथा अल्पसमासपदों की सहयोजना करुणरस की सफल अभिव्यक्ति तो कराती ही है, द्रौपदी के प्रति पाठकों की संवेदना को भी अनायास ही समेट लेती है।

ओजगुण :

ओजगुण का औचित्यपूर्ण प्रयोग संस्कृत साहित्य में आधिक्य व कालक्रम की दृष्टि से सर्वाधिक व सर्वप्रथम भारवि के किरातार्जुनीय महाकाव्य में देखने को मिलता है। किरात और अर्जुन के युद्धप्रसंग में कठोर व संयुक्त वर्णों का तथा लम्बे लम्बे समासों का अनन्त बार प्रयोग महाकवि की गुणौचिती का परिचायक है, साथ ही पाठक के मन की दीप्ति का भी विस्तारक है।

भित्वेव भाभिः सवितुर्मयूखाञ्जज्वाल विष्वग्विसृतस्फुलिङ्गः।
विशीर्यमाणाश्मनिनादधीरं ध्वनिं वितन्वन्नकृशः कृशानुः।।

किराता० १६.५१

प्रस्तुत पद्य में किरातसेना को ध्वस्त करने के लिए अर्जुन द्वारा छोड़े गये आग्नेयास्त्र का व्यापक प्रभाव वर्णित होने से वीररस का परिपाक हो रहा है। भारवि ने प्रस्तुतार्थ को समुचित उत्कर्ष देने के लिए ओजगुण की योजना की है। वर्गों के द्वितीय व चतुर्थ वर्णों की, संयुक्त अक्षरों की, शकारादि महाप्राण ध्वनियों की व दीर्घ समासों की चमत्कारिणी योजना किस पाठक के मन में वीररस का मूर्तबिम्ब नहीं उभार रही है?

फलतः कृतिकार द्वारा किया गया उचितरस के पोषण में उचित गुण का संयोजन बहुत श्लाघनीय है।

रौद्ररस के पोषण में ओजोगुण विशिष्ट पदावली का प्रयोग महाकवि भारवि ने मरणासन्न किन्तु फिर भी अपने खुरों व दंष्ट्राओं के अग्रभाग से पाषाणों को फोड़ देने वाले तथा क्रोध के कारण भयंकर ध्वनि करने वाले उष्णशोणितार्द्र वराह के प्राणत्याग प्रसंग में किया है :

स गतः क्षितिमुष्णशोणितार्द्रः खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा।
असुभिः क्षणमीक्षितेन्द्रसूनुर्विहितामर्षगुरुध्वनिर्निरासे।।

किराता० १३.३१

संयुक्त वर्णों व महाप्राणध्वनियों का अविरल प्रयोग तथा 'खुरदंष्ट्राग्रनिपातदारिताश्मा' व 'विहितामर्षगुरुध्वनिः' जैसे दीर्घसमासों का प्रयोग यहाँ कवि के प्रतिपाद्य अर्थ को तो गुरुता प्रदान कर ही रहा है, भावानुरूप गुणविशिष्ट भाषा के प्रयोग का सुन्दर निदर्शन भी प्रस्तुत कर रहा है।

फलतः रौद्ररस की पुष्टि में किया गया ओजोगुणविशिष्ट पदावली का प्रयोग भारवि की सहज किन्तु श्लाघनीय प्रतिभा का पर्याप्त परिचय दे रहा है।

विरोधी पक्ष में ओजोगुण का विवेचन करने के उपरान्त हम भारवि के महाकाव्यनायक अर्जुन में प्रतिपादित रौद्ररस के अनुरूप ओजोगुण विशिष्ट पदावली का पाठकों को परिचय करा रहे हैं।

अस्त्रयुद्ध के उपरान्त धनुर्युद्ध में प्रवृत्त होने वाले अर्जुन का क्रोध भरा रूप भारवि ने इन शब्दों में व्यक्त किया है :

क्रोधान्धकारान्तरितो रणाय भ्रूभेदरेखाः स बभार तिस्रः।
घनोपरुद्धः प्रभवाय वृष्टेरूर्ध्वांशुराजीरिव तिग्मरश्मिः।।

किराता० १७.९

प्रस्तुत पद्य में कृतिकार ने अपनी पैनी प्रतिभा से जो महाप्राण ध्वनियों की योजना की है वह ओजगुण को अभिव्यक्त करने में बहुत उपयोगी है। धकार व भकार वर्णों के असकृद् प्रयोग से यहाँ जहाँ आनुप्रासिक छटा दृष्टिगोचर होती है वहीं संयुक्त वर्णों की अधिकता से ओजगुण पाठक के चित्त को दीप्ति प्रदान करता है।

प्रसादगुण :

माधुर्य व ओजगुण की भाँति प्रसादगुण के प्रयोग में कोई विशेष नियम नहीं है। पाठक के हृदय में श्रवण मात्र से छा जाने वाला यह गुण सब रसों में प्रयुक्त होता है। भारवि की कृति से एक उदाहरण प्रस्तुत हैः

सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम्।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः।।

किराता० २.३०

उपर्युक्त श्लोक में भीमसेन के प्रति युधिष्ठिर का कथन है कि बिना सोच विचार किये किसी कार्य को नहीं करना चाहिये। अविवेक आपदाओं का प्रमुख स्थान है। गुणों पर आकृष्ट होकर सम्पत्ति तो सोच विचार कर कार्य करने वाले व्यक्ति का स्वयं ही वरण कर लेती है। पाठक की मनोवैज्ञानिक स्थिति को परखने वाले हमारे कृतिकार ने यहाँ प्रसादगुण का सटीक प्रयोग किया है। सर्वमान्य तथ्य है कि किसी भी व्यक्ति को समझाने के लिए सरल, बोधगम्य तथा असमासशैली का प्रयोग उचित होता है। युधिष्ठिर के कथन में भी सरलता, सहजग्राह्यता व सर्वजनसुलभता आदि विशेषताएँ व्यंजित हो रही हैं। फलतः अभीष्ट काव्यार्थ की पूर्ति के लिए महाकवि द्वारा प्रयोग किया गया प्रसादगुण पाठक के चित्त में सूखे ईंधन में अग्नि की भाँति तत्काल व्याप्त हो जाता है।

अभिप्रायौचित्य :

मानसिक भावों को सरल भाषा में व्यक्त करना ही अभिप्राय कहा जाता है। इसकी अभिव्यक्ति में मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया यह है कि वक्ता जिस उद्देश्य के लिए जो कथन कर रहा है वह श्रोता के चित्त को आवर्जित करने वाला होना चाहिये अर्थात् श्रोता का ध्यान वक्ता के अभिप्रेतार्थ पर बिना किसी विशेष परिश्रम के शीघ्र पहुँच जाए। कवि द्वारा किया गया इसका काव्यात्मक प्रयोग सम्पूर्ण काव्यार्थ को चमत्कृत कर देता है। अर्थगौरव के धनी महाकवि भारवि की कृति में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जिनमें अर्थगौरव को सुरक्षित रखते हुए अभिप्रेत अर्थ की सहजता, सरलता एवं सुस्पष्टता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होती है। कतिपय पद्य द्रष्टव्य है :

व्रजन्ति ते मूढधियः पराभवं भवन्ति मायाविषु ये न मायिनः।
प्रविश्य हि घ्नन्ति शठास्तथाविधानसंवृताङ्गान्निशिता इवेषवः।।

किराता० १.३०

प्रस्तुत पद्य में द्रौपदी का कथन है कि "जो मूढलोग मायावियों के साथ माया का व्यवहार नहीं करते वे पराजय को तो प्राप्त होते ही हैं, धूर्त लोग भी उनको इस प्रकार नष्ट कर देते हैं जिस प्रकार नुकीले बाण कवच रहित शरीर को नष्ट कर देते हैं"। सरल एवं बिना परिश्रम के ही चित्त को आवर्जित करने वाले उक्त कथन से द्रौपदी का यह **अभिप्राय** स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि आप दुर्योधन जैसे कपटी के साथ कपट का व्यवहार न करने के कारण मूढ़ हैं। यदि आप इसी उद्योगशून्यता का आश्रय लेते रहे तो शत्रु आपको अवश्य नष्ट कर देगा, अतः आप अपने पूर्व प्रदर्शित तेज को धारण करके शत्रु से युद्ध करें।

फलतः महाकवि ने द्रुपदात्मजा के अभिप्राय पोषक वचनों को सरल व सुबोध शैली में व्यक्त करके काव्यार्थ को चमत्कृत बना दिया है।

यशोऽधिगन्तुं सुखलिप्सया वा मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः।।

किराता० ३.४०

यहाँ तपस्या के लिए जाते हुए अर्जुन के प्रति राजपुत्री याज्ञसेनी का कथन है कि यश व कीर्ति का अभिलषुक व्यक्ति उत्साहित होकर जब कोई असाधारण कार्य करना चाहता है तब सिद्धि (सफलता) उसको इस प्रकार अंगगत कर लेती है जिस प्रकार समुत्सुका कान्ता। प्रस्तुत कथन से द्रौपदी का यह **अभिप्राय** स्पष्ट प्रकट हो रहा है कि तुम वीर होने के कारण यश तथा कीर्ति के इच्छुक हो। दिव्यास्त्र प्राप्ति जैसा असाधारण कार्य करने जा रहे हो यदि तुमने उत्साह को मन में निरन्तर बनाए रखा तो कान्तारूपी सिद्धि तुम्हें स्वयं अंकगत कर लेगी।

महाकवि भारवि ने द्रौपदी के इस **अभिप्राय** का संक्षेप में कान्तासम्मित एवं काव्यात्मक शैली में प्रतिपादन करके काव्यार्थ को भरपूर गौरव प्रदान

किया है। उल्लेखनीय है कि अपनी सभी उक्तियों में द्रौपदी का प्रमुख अभिप्राय युधिष्ठिर तथा अर्जुन को उत्साहित करना ही है और एक वीर के उत्साह व आकर्षण के लिए सिद्धि उपमेय का अनुरक्त कान्ता को उपमान बनाना कमनीय ही नहीं स्वभावानुरूप भी है।

तृतीयनिदर्शन द्रष्टव्य है :

जहिहि कठिनतां प्रयच्छ वाचं ननु करुणामृदु मानसं मुनीनाम्।
उपगतमवधीरयन्त्यभव्याः स निपुणमेत्य कयाचिदेवमूचे।।

किराता० १०.५१

एक अप्सरा परोक्ष के प्रति आकर्षण उत्पन्न करने के लिए दूती बनकर तपस्वी अर्जुन का मौनभंग करने के अभिप्राय से कह रही है कि "तपस्वी मुनियों का चित्त तो करुणा से भरा होता है इसीलिए आप कठोरता का परित्याग कीजिए और मौन त्याग कर मुझसे बातचीत कीजिए। अप्सरा यह कह कर कि "भाग्यहीन ही प्राप्त वस्तु की उपेक्षा किया करते हैं" अपने पूर्वोक्त श्लोक के इस अभिप्राय को स्पष्ट प्रकट कर रही है कि तप तो फिर भी किया जा सकता है अपने अनुरूप व अपने से अनुराग रखने वाली युवतियाँ हर समय नहीं मिला करतीं।

इस प्रकार अभिप्राय में अर्थगौरव और अर्थगौरव में अभिप्राय का गुम्फन करके हमारे कृतिकार ने अनेक प्रसंगों में अपनी चमत्कारिणी प्रतिभा का कलात्मक व भावात्मक प्रदर्शन किया है।

विच्छिन्नाभ्रविलायं वा विलीये नगमूर्धनि।
आराध्य वा सहस्राक्षमयशः शल्यमुद्धरे।।

किराता० ११.७९

प्रस्तुत पद्य में देवराज इन्द्र के प्रति अर्जुन का कथन है कि वायु से छिन्न भिन्न होकर जिस प्रकार बादल विलीन हो जाता है उसी प्रकार मैं भी

इस पर्वत पर या तो नष्ट हो जाऊँगा या सहस्राक्ष इन्द्र की आराधना करके अपने अयशरूपी शल्य का उद्धार करूँगा। प्रस्तुत कथन से अर्जुन के इस अभिप्राय का शीघ्र बोध हो जाता है कि कोई भी मनस्वी, ओजस्वी, व यशस्वी अपने शत्रु के सम्मुख दीनता प्रकट नहीं करता अपितु प्राणों की बाजी लगाकर तदनुकूल उद्योग करके अपने ऊपर लगे हुए अपयश रूपी कण्टक का उद्धार करना चाहता है इसीलिए मैं भी या तो सहस्राक्ष को प्रसन्न करके अपयशःशल्य का उन्मूलन करूँगा अन्यथा इसी गिरिशृङ्ग पर अपने शरीर को समाप्त कर दूँगा।

अभिप्राय के शीघ्र बोध का इससे अधिक और क्या प्रमाण मिलेगा कि ऐसा सुनते ही मघवा अर्थात् इन्द्र अपने दिव्य रूप को प्रकट करके अपने पुत्र अर्जुन को गोद में उठा लेता है और गाढआलिंगन करके शिव के आराधन का मार्ग प्रशस्त कर देता है।

इत्युक्तवन्तं परिरभ्य दोर्भ्यां तनूजमाविष्कृतदिव्यमूर्तिः।
अघोपघातं मघवा विभूत्यै भवोद्भवाराधनमादिदेश।।

किराता० ११.८०

अभिप्राय उपादान का यह औचित्य भारवि की कृति में पदे पदे देखा जा सकता है।

स्वभावौचित्य :

स्वभावगत औचित्य की विस्तृत चर्चा हम प्रथम विमर्श में कर चुके हैं। अब हम किरातार्जुनीय महाकाव्य का स्वभाव के औचित्य की दृष्टि से समीक्षण करते हैं तो सर्वप्रथम हमें किरातार्जुनीय की नारीपात्र द्रुपदात्मजा का स्वाभिमानी स्वभाव दृष्टिगोचर होता है। शत्रुपक्ष द्वारा प्रदत्त विपत्तियों से उसके स्वाभिमानी चित्त पर आघात लगता है, कारण वह नारीगत मर्यादा का भी उल्लंघन करके अपने ही नहीं युधिष्ठिर के व्यक्तिगत व

कुलगत स्वाभिमान का स्मरण दिलाती हुई ओजोमयी वाणी में कह उठती है कि अपने पूर्वजों द्वारा निरन्तर रक्षित पृथ्वी को तुमने इसप्रकार त्याग दिया जिस प्रकार मदोन्मत्त मतंग अपनी ही सूंड से किसी पुष्पमाला को त्याग देता है।

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभि-
श्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयात्महस्तेन मही मदच्युता
मतङ्गजेन स्त्रगिवापवर्जिता।।

किराता० १.२९

कौन कुलाभिमानी अपने कुल में ही उत्पन्न गुणानुरक्ता लक्ष्मी का तुम्हारे अतिरिक्त शत्रुओं से अपहरण करा लेगा? (किराता० १.३१)।

हे नरदेव! मनस्वी जन इस गर्हित मार्ग पर चलते हुए आपका क्रोध उद्दीप्त होकर प्रज्वलित क्यों नहीं हो रहा है? (किराता० १.३२)।

इससे बड़ा दुःख व्यक्तिगत रूप से भी आपके लिए क्या होगा कि जहाँ बहुमूल्य शय्या पर अधिरूढ़ आपको वैतालिकजन स्तुतिगीति मंगलों से जगाया करते थे वहाँ आज अमंगलकारी गीदड़ियों की चिल्लाहट से आपकी आँखें खुलती हैं।

पुराधिरूढःशयनं महाधनं विबोध्यसे यः स्तुतिगीतिमङ्गलैः।
अदभ्रदर्भामधिशय्य स स्थलीं जहासि निद्रामशिवैः शिवारुतैः।।

किराता० १.३८

अपने मनस्वी स्वभाव को उपदेश व परामर्श का रूप देती हुई तेजस्विनी पाञ्चाली कह उठती है कि तेजस्वियों में अग्रेसर आप जैसे यशोधन यदि इसप्रकार के अपमान को सहन कर लेंगे तो खेद है कि "मनस्विता निरालम्ब होकर नष्ट हो जायेगी" :

पुरः सरा धामवतां यशोधनाः
सुदुःसहं प्राप्य निकारमीदृशम्।
भवादृशाश्चेदधिकुर्वते रतिं
निराश्रया हन्त! हता मनस्विता।।

किराता० १.४३

वीररस प्रधान महाकाव्य के रचयिता महाकवि भारवि ने द्रौपदी के स्वाभिमान का ऐसे उचित अवसर पर काव्यात्मक निरूपण करके "जबकि शत्रु का अभ्युत्थान सुनकर सम्राट् युधिष्ठिर शान्ति का ही आश्रय लिए हुए हों" पाठकों के लिए उत्तरोत्तरआकर्षण का केन्द्र बना दिया है।

द्रौपदी के स्वभाव का निरूपण करने के उपरान्त महाकवि भारवि ने अर्जुनाग्रज भीमसेन के ओजस्वी व क्रोधी स्वभाव का सुन्दर चित्रण किया है। मानिनी द्रौपदी के समयोचित कर्त्तव्य मार्ग का समर्थन करता हुआ भीमसेन अनुत्साही राजा युधिष्ठिर द्वारा शत्रु की उपेक्षा को राज्यलक्ष्मी के ह्रास का कारण बताता है :

अनुपालयतामुदेष्यतीं प्रभुशक्तिं द्विषतामनीहया।
अपयान्त्यचिरान्महीभुजां जननिर्वादभयादिव श्रियः।।

किराता० २.१०

भीमसेन मनस्वी व्यक्ति के पुरुषार्थ को ही आपत्तियों से बचने का एक मात्र आलम्बन मानता है (किराता० २.१३)। अर्थान्तरन्यास शैली में उसका मन्तव्य है कि सिंह स्वयं मारे गये हाथियों से ही अपनी जीविका चलाता है जबकि तेजस्वी पुरुष किसी अन्य व्यक्ति की सहायता से ऐश्वर्य ग्रहण नहीं करते (किराता० २.१८)। मनस्वी लोगों की प्रकृति (स्वभाव) का शब्दतः उल्लेख करते हुए भीमसेन का कथन है कि मृगाधिप किस फल की इच्छा से गरजते हुए पयोधरों पर आक्रमण करता है? महान्

लोगों का तो यह स्वभाव ही है कि वे दूसरों की समुन्नति को सहन नहीं किया करते :

किमपेक्ष्य फलं पयोधरान्ध्वनतः प्रार्थयते मृगाधिपः।
प्रकृतिः खलु सा महीयसः सहते नान्यसमुन्नतिं यया।।

किराता० २.२१

अपने बड़े भाई युधिष्ठिर की उद्योगशून्यता पर दुष्ट द्विरद की भाँति क्रोधाक्रान्त हुए भीमसेन का महाकवि भारवि ने जिस सशक्त व ओजःसम्पन्न भाषा में स्वभाव वर्णित किया है वह वास्तव में कवि की पैनी प्रातिभा का तो परिचायक है ही उनके मनोवैज्ञानिक रूप को भी प्रदर्शित कर रहा है। भारवि ने इस काव्यप्रतिभा से अपने पाठक की सहानुभूति युधिष्ठिर के अतिरिक्त शेष चारों पाण्डवों के प्रति भी कलात्मक रीति से प्रदर्शित की है। फलतः यहाँ स्वभाव का उचित प्रयोग होने से सम्पूर्ण कथाप्रबन्ध सजीव हो उठा है।

द्रौपदी व भीमसेन का स्वभाव वर्णित करने के उपरान्त हमारे कृतिकार ने राजा युधिष्ठिर का विवेकी धीरगम्भीर व मार्यादित स्वभाव चित्रित किया है। भीमसेन को शान्त करते हुए विवेकी धर्मराज की स्थापना है जो मनुष्य कर्त्तव्यकर्मरूपी बीजों को अपने विवेकरूपी वारि से फल की प्रतीक्षा करता हुआ सींचता है वह फलों से सुशोभित शरद्ऋतु की भाँति अपनी क्रियाओं को सफल रूप में प्राप्त करता है (किराता० २.३१)।

भीमसेन के क्रुद्ध **स्वभाव** को शान्त करते हुए युधिष्ठिर बुद्धि के पक्ष में अपना मत प्रकट करते हुए कहते हैं कि "अभ्युदयेच्छु पुरुष को सर्वप्रथम अपने क्रोधजनित अन्धकार को अपनी बुद्धि के द्वारा दूर करना चाहिये। अंशुमान् सूर्य भी तो अपनी प्रभा से निशाकृत अन्धकार को नष्ट

किये बिना उदित नहीं होता–

अपनेयमुदेतुमिच्छता तिमिरं रोषमयं धिया पुरः।
अविभिद्य निशाकृतं तमः प्रभया नांशुमताप्युदीयते।।

किराता० २.३६

भीमसेन की अधीरता की ज्वाला को अपने धैर्य के जल से शान्त करते हुए धैर्यशाली युधिष्ठिर का कथन है कि तुमने तो अपनी धीरता से समुद्र तक को पराजित कर रखा है आज अधीर बनकर उसका महत्व क्यों बढ़ा रहे हो (किराता० २.४०)। मर्यादित **स्वभाव** वाले युधिष्ठिर का यह अर्थगौरव पूर्ण कथन किस के मर्म का स्पर्श नहीं कर पायेगा कि "यदि हमने स्वयं स्वीकार की हुई वनवास की मर्यादा को तोड़कर बीच में ही सुयोधन पर आक्रमण कर दिया, तो हमारे सहयोगी यदुवंशी और उनके मित्र हमें मर्यादाहीन जानकर हमारा साथ छोड़ देंगे :

अभियोग इमान्महीभुजो भवता तस्य ततः कृतावधेः।
प्रविघाटयिता समुत्पतन्हरिदश्वः कमलाकरानिव।।

किराता० २.४६

इसप्रकार महाकवि ने राजा युधिष्ठिर के गम्भीर धीर स्वभाव का काव्यानुरूप वर्णन करके प्रकृत प्रसंग को अतिशय हृदयग्राही बना दिया है।

स्वभावचित्रण के इसी क्रम में महाकवि भारवि ने पाण्डवों को अपेक्षित उद्योग व उत्साह प्रदान करने वाले व्यास जी के लोकोपकारी किन्तु भव्यपक्षपाती **स्वभाव** का भी सुन्दर चित्रण किया है। युधिष्ठिर के समक्ष आने का उद्देश्य बताते हुए महर्षि व्यास का कथन है कि यद्यपि सामान्यतः मनुष्यों का और विशेषतः हम जैसे तपस्वियों का यह **स्वभाव** होना चाहिये कि वे अपने बन्धुओं के प्रति समान व्यवहार रखें (वही

२.११)। तथापि तुम्हारे उत्तर गुणों पर आकृष्ट हुआ मेरा हृदय तुम्हारे वशीभूत हो गया है क्योंकि वीतस्पृह मुमुक्षुओं के हृदय में भी सज्जनों के प्रति पक्षपात हो ही जाता है :

तथापि निघ्नं नृप तावकीनैः प्रह्वीकृतं मे हृदयं गुणौघैः।
वीतस्पृहाणामपि मुक्तिभाजां भवन्ति भव्येषु हि पक्षपाताः।।

किराता० ३.१२

यहाँ भी महर्षि व्यास जी के लोकोत्तर तथा हितैषी **स्वभाव** का चित्रण होने से प्रस्तुत प्रसंग चमत्कारी हो उठा है।

वीरों व तपस्वियों का स्वभाव चित्रित करने के पश्चात् महाकवि भारवि ने एकादश सर्ग में अपने काव्यनायक अर्जुन का भी वीरोचित **स्वाभिमानी स्वभाव** निरूपित किया है। देवराज इन्द्र की अनेक शंकाओं का निराकरण करते हुए अर्जुन का कथन है कि स्वाभिमानरहित व्यक्ति की तथा तिनके की एक जैसी गति होती है :

शक्तिवैकल्यनम्रस्य निःसारत्वाल्लघीयसः।
जन्मिनो मानहीनस्य तृणस्य च समा गतिः।।

किराता० ११.५९

वीर पुरुष का क्रोध उसका आभूषण होता है, इसकी व्याख्या करते हुए अर्जुन देवराज इन्द्र से कहता है कि हे तपोधन! तुम ही बताओ कि जिसका क्रोध शत्रु को नष्ट किये बिना ही शान्त हो जाय उसे पुरुष कैसे कहा जा सकता है?

अनिर्जयेन द्विषता यस्यामर्षः प्रशाम्यति।
पुरुषोक्तिः कथं तस्मिन्ब्रूहि त्वं हि तपोधन।।

किराता० ११.७१

उपर्युक्त पद्यों में भारवि ने महाकाव्य नायक अर्जुन के स्वाभिमानी तथा क्रोधी स्वभाव का वर्णन करके उसका नायकोचित स्वरूप सहज ही प्रकट कर दिया है। धीरोदात्त नायक के सम्पूर्ण गुणों को अर्जुन के स्वभाव रूप में चित्रित कर देना महाकवि भारवि की अपनी अद्भुत क्षमता है।

प्रतिभौचित्य :

जैसा कि सर्वविदित है कि आचार्य भामह से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्रायः सभी आचार्यों ने काव्यहेतुओं की गणना में प्रतिभा (शक्ति) को सर्वप्रथम स्थान दिया है। इसी प्रतिभा के बल पर रचनाकार नयी नयी उद्भावनाएँ करके काव्यार्थ की योजना किया करता है। हमारे कुशल कृतिकार भारवि ने भी पदे पदे नित्य नये अर्थों का ग्रहण करके अपनी पैनी काव्य प्रतिभा का पर्याप्त परिचय दिया है। प्रस्तुत प्रबन्ध के कलेवर को ध्यान में रखते हुए हम यहाँ भारवि की प्रतिभौचिती के केवल दो मार्मिक प्रसंगों का विवेचन करेंगे।

द्वैतवन में आये हुए महर्षि वेदव्यास शत्रुपक्ष की प्रबलता बताकर पाण्डवों को उद्योग करने के लिए प्रेरित करते हैं। युधिष्ठिर के प्रति उनका कथन है कि तुम अपने पराक्रम के द्वारा ही राज्यलक्ष्मी को प्राप्त कर सकते हो। तुम्हारा शत्रु पक्ष, पराक्रम और अस्त्रबल में तुम से बहुत आगे है इसलिए तुम्हें भी अपने प्रकर्ष के लिए उपाय करना ही चाहिये क्योंकि रण में जयश्री प्रकर्ष के ही अधीन होती है :

लभ्या धरित्री तव विक्रमेण ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः।।

किराता० ३.१७

विपक्ष की महत्वपूर्ण शक्तियाँ कितनी अजेय हैं, इसका निरूपण करते हुए व्यास मुनि का कथन है कि इक्कीस बार जगती के पतियों का

नाश करने वाले, अस्त्रविद्या के प्रसिद्ध उपदेष्टा जामदग्न्य (परशुराम) भी (अम्बिका स्वयम्बर में अपने अद्भुत पौरुष के कारण) जिन भीष्म के पराक्रम से पराजित हो गए थे (किराता० ३.१८) उनसे अपने ऐश्वर्य की असफलता के कारण दुःखी मृत्यु भी मानों पराभव को प्राप्त हो जाता है। ऐसा वह भीष्म युद्ध में किस वीर के मन में भय उत्पन्न नहीं करेगा?

यस्मिन्ननैश्वर्यकृतव्यलीकः पराभवं प्राप्त इवान्तकोऽपि।
धुन्वन्धनुः कस्य रणे न कुर्यान्मनो भयैकप्रवणं स भीष्मः।।

किराता० ३.१९

तुम्हारी ओर कौन ऐसा वीर है जो क्रोध से जाज्वल्यमान, जीभ की भाँति भयंकर लपटें छोड़ते हुए मानों सम्पूर्ण संसार को खाने का इच्छुक प्रलयकालिक अग्नि की तरह गुरु द्रोणाचार्य को सहन कर सकेगा :

सृजन्तमाजाविषुसंहतीर्वः सहेत कोपज्वलितं गुरुं कः।
परिस्फुरल्लोलशिखाग्रजिह्वं जगज्जिघत्सन्तमिवान्तवह्निम्।।

किराता० ३.२०

अधिक क्या कहा जाय अपने आवेश से दूसरों के धैर्य को निरस्त करने वाले राधासुत कर्ण को देखकर मृत्यु को भी अपरिचित भय से हठात् परिचय हो जाता है। अर्थात् सब प्राणियों को भयभीत करने वाली मृत्यु भी उससे भय मानती है।

निरीक्ष्य संरम्भनिरस्तधैर्यं राधेयमाराधितजामदग्न्यम्।
असंस्तुतेषु प्रसभं भयेषु जायेत मृत्योरपि पक्षपातः।।

किराता० ३.२१

महाकवि भारवि ने उपर्युक्त श्लोकों में व्यास जी के द्वारा शत्रुपक्ष के प्रकर्ष वर्णन में जिस व्यंग्य प्रधान भाषा का तथा ओजप्रधान शैली का

प्रयोग किया है वह प्रस्तुतार्थ को चमत्कृत तो करती ही है कवि की पैनी काव्य प्रतिभा का भी भरपूर परिचय देती है। भीष्मद्रोण तथा कर्ण जैसे महान् योद्धाओं की अपराजेयता को प्रदर्शित करने के लिए नये नये गम्भीर अर्थों का उन्मेष निश्चय ही महाकवि की **प्रतिभा** का प्रतिफल है।

फलतः काव्यार्थ को उत्कर्ष देने के लिए कृतिकार ने अपनी **प्रतिभा** का पर्याप्त व समुचित प्रयोग किया है।

कविप्रतिभा के औचित्य का द्वितीय निदर्शन हमें उस समय प्राप्त होता है जब तपस्या के लिए प्रस्थान करते हुए अर्जुन के वियोग में चारों पाण्डव दुःखित होते हैं। कवि कहता है कि जैसे उदित होते हुए सूर्य के द्वारा छोड़े गये सुमेरुकुंजों को अन्धकार घेर लेता है, ठीक उसी प्रकार अभ्युदयेच्छु अर्जुन के चले जाने पर चारों पाण्डवों को शोकरूपी अन्धकार ने घेर लिया :

अथोष्णभासेव सुमेरुकुञ्जान्विहीयमानानुदयाय तेन।
बृहद्द्युतीन्दुःखकृतात्मलाभं तमः शनैः पाण्डुसुतान्प्रपेदे।।

किराता० ३.३२

उत्कर्ष प्राप्ति के हेतु अपने महाकाव्यनायक अर्जुन को उत्कर्ष की यात्रा पर चलने वाले अभ्युदयकालिक सूर्य से उपमित करके महाकवि ने जिस गुरु गम्भीर अर्थ की अभिव्यक्ति की है वह निश्चय ही कवि की प्रतिभौचिती का प्रत्यक्ष निदर्शन है। अपने काव्यनायक की तेजस्विता, लक्ष्योन्मुखता एवं आरोहणशीलता आदि समानधर्मों की सूर्य में ही तो एकत्र उपस्थिति सम्भव है अन्यत्र कहाँ?

भारवि की उत्प्रेक्षा है कि परस्पर स्नेह रखने वाले उन चारों भाइयों ने अर्जुन के वियोग जनित दुःख को मानो चार भागों में विभक्त कर लिया। इसी कारण उनके मन दुःख के भार को हल्का अनुभव करने लगे :

असंशयालोचितकार्यनुन्नः प्रेम्णा समानीय विभज्यमानः।
तुल्याद्विभागादिव तन्मनोभिर्दुःखातिभारोऽपि लघुः स मेने।।

किराता० ३.३३

प्रस्तुत श्लोक में सम्पूर्ण दुःख को चारों भाइयों में समान रूप से विभक्त करने की नूतन कल्पना किस पाठक के हृदय को कवि के कौशल का प्रत्यक्ष आभास नहीं करा देती?

युधिष्ठिरादि चारों पाण्डवों में वह शोक अधिक क्यों नहीं व्याप्त हो सका, इसका हेतु बताते हुए महाकवि भारवि का कथन है कि स्वयं का धैर्य, हितैषी महर्षि के वचनों में पूर्ण विश्वास, शत्रुओं के दुर्व्यवहार के कारण उत्पन्न मन्यु तथा इन्द्रपुत्र अर्जुन का प्रसिद्ध पराक्रम यह समस्त कारण समुदाय पाण्डवों को शोकमग्न न कर पाने में असाधारण हेतु हैं :

धैर्येण विश्ववास्यतया महर्षेस्तीव्रादरातिप्रभवाच्च मन्योः।
वीर्यं च विद्वत्सु सुते मघोनः स तेषु न स्थानमवाप शोकः।।

किराता० ३.३४

प्रस्तुत पद्य में अपनी प्रतिभा के बल पर अनेक कारणों की उद्भावना करके कृतिकार ने हेत्वालंकार के माध्यम से काव्यार्थ को सर्वथा चमत्कारी बना दिया है। द्रौपदी के शोकाकुल होने का निरूपण करते हुए कवि कहता है कि जिसप्रकार दिन के चारों प्रहरों को छोड़कर अन्धकार रात्रि को घेर लेता है उसीप्रकार चारों पाण्डवों को छोड़कर उस शोक ने कृष्णा (द्रौपदी) को घेर लियाः

तान्भूरिधाम्नश्चतुरोऽपि दूरं विहाय यामानिव वासरस्य।
एकौघभूतं तदशर्म कृष्णां विभावरीं ध्वान्तमिव प्रपेदे।।

किराता० ३.३५

इससे और अधिक नूतन व मनोग्राहिणी कल्पना क्या हो सकती है कि महाकवि ने चारों पाण्डवों को दिन के चारों प्रहरों की भाँति तथा कृष्णा (द्रौपदी) को विभावरी बताकर नितान्त व्यापक परिवेश में अहोरात्र का बिम्ब उभारकर अपनी उदात्त नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का प्रभावी परिचय दिया है। शोकग्रस्ता द्रौपदी अर्जुन को देखने के लिए बहुत लालायित थी, किन्तु अपने पर्यश्रु नयनों को इस भय से न मूंद पायी क्योंकि मूंदते ही आंखों से आँसू टपक पड़ेंगे और यात्रा की प्रथम मंगलबेला में अश्रुपात अमंगलकारी होगा :

तुषारलेखाकुलितोत्पलाभे पर्यश्रुणी मङ्गलभङ्गभीरुः।
अगूढभावाऽपि विलोकने सा न लोचने मीलयितुं विषेहे।।

किराता० ३.३६

यहाँ भारवि ने अपनी प्रशंसनीय प्रतिभा के बल पर द्रौपदी की व्याकुलावस्था का सजीव बिम्ब उभार दिया है।

संक्षेप में हम कह सकते हैं कि महाकवि भारवि ने नवीन अर्थों की उद्भावना में तो अपनी प्रतिभा का भरपूर परिचय दिया ही है भाषिक स्तर की सभी ईकाइयों में भी कवि की प्रतिभा मुखर हो उठी है।

विचारौचित्य :

मनोगत विचारों को वाणी में स्थापित करने वाले, प्रसन्नगम्भीरपदा सरस्वती के समुपासक महाकवि भारवि ने एक ही विषय पर विभिन्न पात्रों के विचारों का जो उनके स्वभावानुरूप चित्रण किया है वह विचारौचिती का सटीक उदाहरण प्रस्तुत करता है। यों तो किसी भी विषय पर महाकवि के विचार सर्वथा तर्कशक्ति का आश्रय लेकर सर्वत्र प्रतिपादित हुए हैं और सर्वत्र ही पात्रानुरूप विचारों का औचित्य प्रत्यक्ष देखा जा सकता है तथापि विजयश्री की प्राप्ति जैसे एक ही विषय पर विभिन्न स्वभावों के

अनुरूप जो विचार प्रथम, द्वितीय एवं तृतीय सर्गों में व्यक्त हुए हैं वह विशेष रूप से श्लाघनीय हैं। द्रुपदात्मजा, भीमसेन महर्षि व्यास तथा राजा युधिष्ठिर के विचारों का निदर्शन यहाँ प्रस्तुत हैं –

मानसिक व्यथाओं के कारण नारीगत मर्यादा का भी ध्यान रखने वाली पाञ्चाली विजय प्राप्ति के लिए शान्ति का सर्वथा परित्याग करके मन्यु (क्रोध) या तेजस्विता को ही सर्वप्रथम स्वीकार्य कारण मानती है वह कहती है कि हे राजन्! आप प्रसन्न होइए और शत्रुओं के विनाश के लिए शान्ति का त्याग करके तेजस्विता को धारण कीजिए। कामक्रोधादि आन्तरिक शत्रुओं के विनाश के लिए शान्ति को मुनिलोग साधन रूप में अपनाया करते हैं, बाहरी शत्रुओं का विनाश करने के लिए राजाओं को क्रोध या तेजस्विता प्राप्त किये बिना सिद्धि नहीं मिला करती :

विहाय शान्तिं नृप धाम तत्पुनः प्रसीद संधेहि वधाय विद्विषाम्।
व्रजन्ति शत्रूनवधूय निःस्पृहाः शमेन सिद्धिं मुनयो न भूभृतः।।

किराता० १.४२

नारी समयों का उल्लंघन करने वाली द्रौपदी स्पष्टतः युधिष्ठिर से कह उठती है :

न समयपरिरक्षणं क्षमं ते निकृतिपरेषु परेषु भूरिधाम्नः।
अरिषुहिविजयार्थिनः क्षितीशा विदधति सोपधि सन्धिदूषणानि।।

वही १.४५

निश्चय ही द्रौपदी के इन विचारों में हमारे कृतिकार ने उसकी सम्पूर्ण परिस्थितियों का मूर्तबिम्ब उभारने का जो स्तुत्य प्रयास किया है वह उनके व्यक्तित्व व कृतित्व दोनों का अलंकार बन गया है।

मानिनी द्रौपदी के विचारों का समर्थन करता हुआ स्वाभिमानी मनस्वी भीमसेन पुरुषार्थ व पराक्रम के विषय में अपनी विचार परम्परा

को सतर्क प्रस्तुत करता हुआ कह रहा है कि "पराक्रमहीन व्यक्ति को विपत्तियाँ आक्रान्त कर लेती हैं आपदग्रस्त व्यक्ति का भविष्य रुक जाता है। भविष्यहीन व्यक्ति का लाघव (अप्रतिष्ठा) निश्चित है और लघु व्यक्ति कभी राज्यलक्ष्मी का पात्र नहीं बन सकता।

विपदोऽभिभवन्त्यविक्रमं रहयत्यापदुपेतमायतिः।
नियता लघुता निरायतेरगरीयान्न पदं नृपश्रियः।।

किराता० २.१४

इतना ही क्यों, वह निश्चित सिद्धान्त के रूप में पराक्रम शून्यता का खण्डन करते हुए कह उठता है :

निवसन्ति पराक्रमाश्रया न न विषादेन समं समृद्धयः।।

किराता० २.१५

द्रौपदी की ही भाँति भीमसेन अवधि की प्रतीक्षा या सन्धि की मान्यता में विश्वास नहीं रखता। वह जानता है कि धृतराष्ट्र का बेटा चिरकाल तक राज्यलक्ष्मी का भोग करके फिर उसे नहीं छोड़ेगा। इसलिये विपद विनाश व सम्पत्ति प्राप्ति हेतु अविलम्ब पौरुष का आश्रय लेना चाहिये :

अथ चेदवधिः प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना।
धृतराष्ट्रसुतेन सुत्यजाश्चिरमास्वाद्य नरेन्द्रसम्पदः।।

किराता० २.१६

राजा युधिष्ठिर के गुणसमूह से आकृष्ट हुए वीतराग महर्षि वेदव्यास जैसे तुल्यवृत्ति महात्मा के विचारों को पौरुष के पक्ष में प्रदर्शित करते हुए हमारे कृतिकार ने मानों अपने आदर्शविचार व्यक्त कर दिये हैं। वेदव्यास जी का विचार है कि राजन्! पराक्रम के द्वारा ही तुम्हें अपना राज्य मिल

सकता है। तुम्हें अपने पराक्रम को बढ़ाने के लिए विशेष प्रयत्न करना चाहिये क्योंकि तुम्हारा विपक्ष पराक्रम व अस्त्रबल में तुमसे कहीं बढ़कर है–

लभ्याधरित्री तव विक्रमेण
ज्यायांश्च वीर्यास्त्रबलैर्विपक्षः।
अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः
प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जय श्रीः।।

किराता० ३.१७

यमराज को भी पराजित करने वाले भीष्म, क्रोध की तीक्ष्ण ज्वालाओं से प्रज्वलित आचार्यद्रोण तथा मृत्यु को भी विभीषिका का परिचय करा देने वाला आराधित जामदग्न्य कर्ण जैसे बलिष्ठ पराक्रमियों का विपक्ष को सहयोग प्राप्त है। अतः पराक्रम व अस्त्रबल की प्राप्ति के लिए विशेष प्रयत्न करो।

महाकवि भारवि ने एकलक्ष्य की प्राप्ति में उपर्युक्त तीन पात्रों का समान विचार प्रस्तुत करके उसके प्रति अपनी सहमति तो व्यक्त कर ही दी है राजा युधिष्ठिर द्वारा व्यक्त किये गये समय की प्रतीक्षा कराने वाले विचारों को पूर्व पक्ष में डाल दिया है। फलतः विचारौचित्य का यह सुन्दर निदर्शन है।

यह माना कि हमारे कृतिकार के विचार राजा युधिष्ठिर के विचारों से सहमति नहीं रखते तथापि विवेचन करने पर युधिष्ठिर के विचारों का भी तदनुरूप सर्वथा, औचित्य प्रतीत होता है। युधिष्ठिर स्वयं राजा हैं उन्होंने सन्धि प्रस्ताव पर स्वयं हस्ताक्षर किये हैं उनके द्वारा सन्धि का स्वयं तोड़ा जाना मानों आत्महत्या करना है। फिर ये कैसे सम्भव है कि वे द्रौपदी के "न समयपरिरक्षणं क्षमं ते" तथा भीम के "अथ चेदवधिः

प्रतीक्ष्यते कथमाविष्कृतजिह्मवृत्तिना'' इत्यादि विचारों से सहमत हो पाते। इसके अतिरिक्त राजा का कर्तव्य है कि वह निष्फलक्लेशबहुल व सन्दिग्ध फल वाला कोई काम न करे। कामन्दक का वचन द्रष्टव्य है–

''निष्फलं क्लेशबहुलं संदिग्धफलमेव च।
न कर्मं कुर्यान्मतिमान्सदा वैरानुबन्धि च''।।

किराता० २.३५ मल्लि०

यही कारण है कि युधिष्ठिर पौरुष अपनाने से पूर्व मंगलमय उपाय एवं फलप्राप्ति का निश्चय कर लेना आवश्यक मानते हैं। वे कहते हैं :

शिवमौपयिकं गरीयसीं फलनिष्पत्तिमदूषितायतीम्।
विगणय्य नयन्ति पौरुषं विजितक्रोधरया जिगीषवः।।

किराता० २.३५

इतना ही नहीं सूर्य व चन्द्रमा का उदाहरण देकर वे क्रोध के वेग को सर्वप्रथम जीत लेने में ही अपने विजय की सम्भावना का विचार रखते हैं। उनकी दृष्टि में लक्ष्मी आश्रय के आधार पर चंचला है क्रोध को जीते बिना उसे स्थिर नहीं बनाया जा सकता :

श्रुतमप्यधिगम्य ये रिपून्विनयन्ते न शरीरजन्मनः।
जनयन्त्यचिराय सम्पदामयशस्ते खलु चापलाश्रयम्।।

किराता० २.४१

क्रोध बना रहने से राजनीति का कोई फल प्राप्त नहीं होता।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि एक विषय पर विभिन्न पात्रों की विचार परम्परा की औचिती का हमारे कृतिकार ने सम्यक् तथा समुचित निर्वाह किया है।

नामौचित्य :

महाकवि भारवि ने अपने महाकाव्य में ऐसे अनेक नामों का प्रयोग किया है जिनसे काव्यार्थ में पर्याप्त चमत्कार उत्पन्न हुआ है। ऐसे नामों का प्रयोग जहाँ औचित्य की परिधि में आता है वहीं पाठक को कवि की प्रतिभा का पर्याप्त परिचय प्रदान करता है। कतिपय निदर्शन प्रस्तुत है :

विशङ्कमानो भवतः पराभवं नृपासनस्थोऽपि वनाधिवासिनः।
दुदोदरच्छद्मजितां समीहते नयेन जेतुं जगतीं सुयोधनः।।

किराता० १.७

नाम प्रयोग के औचित्य की दृष्टि से यहाँ "सुयोधन" नाम अभिनन्दनीय है। महाकवि भारवि वनेचर द्वारा युधिष्ठिर के सम्मुख उनके शत्रु की उस रहस्यमयी राजनीति को व्यक्त करना चाहता है जिसके अन्तर्गत वह पाण्डवों से भयभीत होता हुआ भी द्यूतक्रीड़ा में छल से जीती हुई पृथ्वी को न्यायपूर्ण शासन के द्वारा अपने वश में करना चाहता है। वनेचर के उक्त काव्यार्थ की तीव्र अभिव्यक्ति कराने के लिए भारवि द्वारा सुयोधन नाम का प्रयोग अपना कलात्मक औचित्य रखता है। जो धृतराष्ट्र का बेटा पहले 'दुष्टं युध्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार दुर्योधन कहलाकर छल कपट पूर्ण द्यूत के माध्यम से दुष्टता की लड़ाई लड रहा था वह अब 'सुष्ठु युध्यते' इस व्युत्पत्ति के अनुसार सुयोधन कहलाकर नीति के बल पर प्रजा को अपने वशीभूत करके सही युद्ध करने लगा है। इस प्रकार वनेचर द्वारा प्रयुक्त "सुयोधन" नाम का प्रयोग पाठक के मानस पटल पर सुयोधन की कौशलपूर्ण नीति का सजीव बिम्ब पैदा करता है। साथ ही पाठक की मानसिकता को दुर्योधन की उद्दण्डता से हटाकर "सुयोधन" की शासकीय सुव्यवस्था से जोड़ देता है।

हमारे इस कथन की पुष्टि वीतराग महात्मा महर्षि व्यास द्वारा कहे गये इस वाक्य से भी हो रही है कि "क्या आप धृतराष्ट्र के बेटे नहीं हैं अथवा गुणों में आपने सुयोधन की अपेक्षा अधिकता प्राप्त नहीं कर रखी है"।

सुता न यूयं किमु तस्य राज्ञः
सुयोधनं वा न गुणैरतीताः।
यस्त्यक्तवान्वः स वृथा बलाद्वा
मोहं विधत्ते विषयाभिलाषः।।

किराता० ३.१३

तात्पर्य स्पष्ट है कि "सुयोधन" की नीति कुशलता एवं सुष्ठुयोधनता से व्यासजी भी सहमत हैं, उनकी दृष्टि में भी वह गुण है। यह दूसरी बात है कि युधिष्ठिर अन्य गुणों के द्वारा उसकी अपेक्षा अधिक श्रेयान् हैं।

विजित्य यः प्राज्यमयच्छदुत्तरान्कुरूनकुप्यं वसु वासवोपमः।
स वल्कवासांसि तवाऽधुनाहरन् करोति मन्युं न कथं धनञ्जयः।।

किराता० १.३५

मध्यमपाण्डव महापराक्रमी अर्जुन की दुर्दशा का स्मरण कराते हुए राजा युधिष्ठिर को उत्तेजित करना द्रुपदात्मजा के कथन का अभिप्रेत काव्यार्थ है। महाकवि ने प्रस्तुत काव्यार्थ की तीव्र अभिव्यक्ति कराने के लिए अर्जुन के अन्य नामों–

अर्जुनः फाल्गुनोजिष्णुः किरीटी श्वेतवाहनः।
बीभत्सुर्विजयः कृष्णः सव्यसाची धनञ्जयः।।

महा० वि० पर्व ४४.९

में से "धनंजय" नाम का प्रयोग करके यह ध्वनित किया है कि "जो अनेक कुरुप्रदेशों को जीतकर बहुत सी सुवर्ण एवं रजतराशि आपको लाकर देता था आज वही "धनंजय" वल्कलधारी होकर केवल दिन काट रहा है, तुम्हारे हृदय में अब भी क्रोध क्यों नहीं उत्पन्न होता? भारवि ने इस प्रसंग में "धनंजय" नाम की व्युत्पत्ति

सर्वान् जनपदान् जित्वा वित्तमादाय केवलम्।
मध्ये धनस्य तिष्ठामि तेनाहुर्मा धनञ्जयम्।।

महा० वि० पर्व० ४४.१३

तथा ध्वनि दोनों दृष्टियों से समुचित प्रयोग करके पाठक के मन पर ''धनंजय'' की दीन-हीन दुर्दशा का मूर्त बिम्ब उपस्थित कर दिया है।

फलतः प्रस्तुत सन्दर्भ में अर्जुन के लिए ''धनंजय'' नाम का प्रयोग बहुत सटीक है।

अनुशासतमित्यनाकुलं नयवर्त्माकुलमर्जुनाग्रजम्।
स्वयमर्थ इवाभिवाञ्छितस्तमभीयाय पराशरात्मजः।।

किराता० २.५४

यहाँ व्यास जी के लिए प्रयुक्त ''पराशरात्मजः'' नाम का प्रयोग बहुत साभिप्राय है। ''परान् शत्रून् आ समन्तात् शृणाति – नाशयति, इति पराशरः'' इस व्युत्पत्ति के अनुसार शत्रुओं के क्षय मार्ग का उपदेश करने वाले महर्षि के लिए ''पराशरात्मजः'' कहना जहाँ औचित्यपूर्ण है वहीं

परासुः स यतस्नेनवसिष्ठः स्थापितो मुनिः।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः।।

संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ ६६६

इस नाम निरुक्ति के अनुसार जिन पराशर ने गर्भ में रहकर ही मृतप्राण वसिष्ठ मुनि को पुनः स्थापित कर दिया हो उन्हीं के पुत्र का मृतप्राणतुल्य पाण्डवपक्ष को प्रकर्षतन्त्रोपदेश के माध्यम से पुनर्जीवन देने के लिए भारवि का ''पराशरात्मज'' कहकर उपस्थित करना सर्वथा सटीक तथा औचित्यपूर्ण है।

फलतः व्युत्पत्ति एवं ध्वनि दोनों ही दृष्टियों से ''पराशरात्मज'' नाम पाठक की मासिकता को प्रस्तुतार्थ से जोड़ देता है।

विलङ्घ्यपत्रिणां पङ्क्तिं भिन्नः शिवशिलीमुखैः।
ज्यायो वीर्यमुपाश्रित्य न चकम्पे कपिध्वजः।।

किराता० १५.४४

प्रस्तुतार्थ में ''कपिध्वज'' नाम का प्रयोग बहुत औचित्य रखता है। शिवजी द्वारा चलाये गये बाणों से अपने बाणों की पंक्तियों को कटी देखकर भी कपिध्वज (अर्जुन) अपने पराक्रम का सहारा लेकर लेश भी कम्पित नहीं हुए। भारवि का प्रमुख उद्देश्य अर्जुन का उत्साह व पराक्रम व्यक्त करना है जिसके लिए उसने अर्जुन के नाम प्रयोग में भी सावधानी रखी है। ''कपिध्वज'' नाम का अभिप्राय है ''जिसकी ध्वजा पर कपि (हनुमान्) हों'' अर्थात् महापराक्रमी महावीर ''हनुमान्'' जिसकी रक्षा करने वाले हों उसको कौन शक्ति पराजित कर सकती है?

इस प्रकार यहाँ अर्जुन की असाधारणशक्ति, अविचलता तथा उत्साहपूर्ण स्थिति का बोध कराने के लिए कृतिकार ने यहाँ 'कपिध्वज' नाम का प्रयोग सर्वथा प्रसंगानुरूप ही किया है।

नामौचित्य की इस संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् हम नामानौचित्य पर दृष्टिपात करना आवश्यक समझेंगे।

परिभ्रमंल्लोहितचन्दनोचितः पदातिरन्तर्गिरि रेणुरूषितः।
महारथः सत्यधनस्य मानसं दुनोति नो कच्चिदयं वृकोदरः।।

किराता० १.३४

प्रस्तुत श्लोक में भीमसेन की दुर्गति को व्यक्त करना द्रौपदी का अभिप्रेत काव्यार्थ है। भारवि ने यहाँ भीमसेन के लिए ''वृकोदर'' नाम का प्रसंगाननुरूप प्रयोग करके काव्यार्थ को शून्य में बदल दिया है। यह वृकोदर नाम प्रस्तुत प्रसंग में अपनी व्युत्पत्ति व ध्वनि दोनों ही दृष्टियों में अनुचित है। जिसका उदर ही वृक (भेडिये) जैसा विशाल है वह यदि पर्वतों की कन्दराओं में घूम रहा है तो कष्ट किस बात का है? पर्वतों पर घूमने से तो उसका उदर सरलता से भर सकता है। श्लोक में प्रयुक्त ''अन्तर्गिरिपरिभ्रमन्'' वाक्यांश हमारी इस स्थापना की पर्याप्त पुष्टि कर रहा है। फलतः यहाँ वृकोदर नाम चमत्कार उत्पन्न नहीं करता।

वृत्तौचित्य :

हमारे विवेच्य महाकाव्य किरातार्जुनीय में अनेक वृत्तों (छन्दों) का प्रयोग जिस कुशलता व सतर्कता के साथ मिलता है उससे महाकवि भारवि की विविधछन्दप्रियता तो प्रकट होती ही है रस तथा भाव की चाहत में भी पर्याप्त वृद्धि होती है।

किसी भी राजा को अपनी नीति का निर्धारण करते समय अपनी कुलपरम्परा का स्मरण होता है, कुल या वंश की यह स्मृति उसे सन्मार्ग पर प्रवृत्त रहने तथा कुमार्ग से बचते रहने की प्रेरणा देती रहती है, यही कारण है कि राजाओं की नीति अर्थात् राजनीति का वर्णन करते समय अनेक महाकवियों ने वंशपरम्परा के स्मारक वंशस्थ वृत्त का प्रयोग किया है। स्वयं आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने सुवृत्त सुवृत्ततिलकम्'' में राजनीति के प्रसंग में वंशस्थ वृत्त के इस प्रयोगौचित्य की ओर स्पष्ट इंगित किया है। कवि परम्परा का निर्वाह करते हुए हमारे कृतिकार ने भी प्रायः ऐसे सभी

प्रसंगों में वंशस्थ वृत्त का प्रयोग किया है। जहाँ कहीं उसे राजनीति का वंशानुरूप वर्णन करना पड़ा है वहाँ अपने वर्णन से वंशगौरव की स्मृति दिलाकर उस नीति को स्वीकारने की प्रेरणा दी गई है। वनेचर के द्वारा सुयोधन की नीति का सविस्तार वर्णन तो कवि ने वंशस्थ वृत्त में किया ही है, द्रुपदात्मजा द्वारा युधिष्ठिर के पूर्ववंशजों से धारण की हुई भूमि का राज्य छोड़ दिये जाने पर उसकी अकर्मण्यता को चुनौती तथा शत्रुवध की प्रेरणा का प्रभावी प्रसंग भी इसी वंशस्थ वृत्त के माध्यम से प्रदर्शित किया गया है। महाभारत के दुर्योधन को हमारा कृतिकार जिस सुनीति के आधार पर सुयोधन रूप में चित्रित कर रहा है उसका आधार भी वस्तुतः वंशस्थ वृत्त में प्रदर्शित वही वंशगौरव व यशोलिप्सा की भावना है कि "मेरे सामने नीति में प्रयोग में मेरा कोई वंशज आगे न बढ़ जाये":

तथापि जिह्मः स भवज्जिगीषया तनोति शुभ्रं गुणसम्पदा यशः।
समुन्नयन्भूतिमनार्यसङ्गमाद् वरं विरोधोऽपि समं महात्मभिः।।

किराता० १.८

मानिनी द्रुपदात्मजा युधिष्ठिर के जिन आखण्डलतुल्यधामा वंशजों का स्मरण दिलाकर युधिष्ठिर के शैथिल्य की ओर इंगित कर रही है। उनके वर्णन प्रसंग में भी वंशस्थ का प्रयोग सर्वथा सटीक है :

अखण्डमाखण्डलतुल्यधामभिश्चिरं धृता भूपतिभिः स्ववंशजैः।
त्वयाऽऽत्महस्तेन मही मदच्युता मतङ्गजेन स्त्रगिवापवर्जिता।।

किराता० १.२९

इतना ही क्यों महाकवि भारवि ने पाण्डवों के वंशगुरु महर्षि वेदव्यास

द्वारा राजा धृतराष्ट्र के पक्षपातपूर्ण व्यवहार तथा पाण्डवों के लिए महत्वयोग का सम्पादन करने वाली विद्या के प्रसंग में नीतिभरा उपदेश इसी वंशस्थ वृत्त में कराया है।

याज्ञसेनी द्वारा इन्द्रकील पर्वत के लिए यियासु धनंजय के स्वाभिमान को उभारने तथा शत्रुकृत विप्रकार का स्मरण दिलाने में हमारे कृतिकार ने इन्द्रवज्रावृत्त का सटीक व सार्थक प्रयोग किया है वस्तुतः अमोघ इन्द्रवज्र की भाँति द्रौपदी की वाणी का भी अर्जुन पर अमोघ प्रभाव ही हुआ :

आसाद्य वाचं स भृशं दिदीपे कष्ठामुदीचीमिव तिग्मरश्मिः।।

किराता० ३.५५

छन्द का अर्थानुसारी यह प्रयोग चयन महाकवि के कलात्मक उत्कर्ष का आधायक तो है ही उनकी वृत्तगत विपश्चिता का भी परिचायक है। हमारे इस कथन की पुष्टि भारवि द्वारा पंचमसर्ग में हिमालयवर्णन के प्रसंग में द्रुतविलम्बित छन्द के प्रयोग से भी हो रही है। पार्वत्य प्रदेश में शिखरों से अवरोहण में जहाँ गति की द्रुतता की अनुभूति होती है वहीं आरोहरण में विलम्बितता स्वाभाविक है। प्रथम द्रुतता तथा पश्चात् विलम्बितता का समर्थन कवि ने इस कल्पना से भी किया है कि अर्जुन सुमेरु पर्वत पर विजय पाने की कामना से अथवा दिगन्त को बहुत शीघ्र देखने की कामना से द्रुतगति से हिमाद्रि की ओर बढ़ा, किन्तु हिमाद्रि पर चढ़ते समय भावनाओं की द्रुतता ने गति की विलम्बितता का रूप ले लिया। इस प्रकार सार्थक वृत्त के प्रयोग ने कवि की वाणी को कलात्मक उत्कर्ष प्रदान किया है।

निष्कर्ष

महाकवि भारवि ने अपने "किरातार्जुनीय महाकाव्य" में अनेक छन्दों का रसानुकूल व चमत्कारी प्रयोग किया है। महाकाव्य की रस योजना, संवाद औचित्य वार्तालाप के क्रमिक विकास तथा प्रकृति के कोमल कठोर वर्णनों को ध्यान में रखते हुए महाकवि भारवि ने यथास्थान समुचित वृत्तों का उपयोग किया है।

इसप्रकार प्रस्तुत विमर्श में किया गया मनोवैज्ञानिक प्रक्रियामूलक अध्ययन हमें भारवि के कृतित्व के सम्बन्ध में निम्नलिखित निष्कर्ष प्रदान करता है :

१- कवि की वीररस और सम्भोग शृंगार की मानसिकता का निर्माण सामन्ती अभिजातवर्गीय परिवेश की अभिरुचि से हुआ है।

२- अंग तथा अंगीरस की योजना का काव्यशास्त्रीय औचित्य तो सम्भवतः निर्वाहित मान लिया जाय, परन्तु सहृदयसंवेद्य रस प्रवाह का औचित्य क्षीण है। महाकवि भारवि की रसनिष्पत्ति की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि महाकवि कालिदास तथा महाकवि भवभूति से हीनतर है।

३- कवि कल्पना प्रसूत वराहमृगया के सन्दर्भ में अपेक्षाकृत रसौचित्य आ गया है।

४- अलंकार, गुण आदि उपादानों का मनोवैज्ञानिक औचित्य कवि की मानसिकता के अनुरूप ही है।

सप्तम विमर्श पूर्ण

उपसंहृति

प्रस्तुत अध्ययन को उपसंहृत करते हुए हम कतिपय महत्वपूर्ण निष्कर्षों को पुनः रेखांकित करना उचित समझते हैं। अध्ययन की प्रस्तावना में प्राचीन भारतीय काव्यसमीक्षा की दृष्टियों को सन्दर्भित करते हुए हमने यह स्थापना की है कि अन्य समीक्षादृष्टियाँ बहुत कुछ एक देशीय हैं अर्थात् काव्य के अन्तःपक्ष रसादि अथवा बाह्यपक्ष अलंकारादि पर अतिशय बल देती हैं, जबकि क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि समीक्षा के सभी काव्यतत्वों को यथोचित महत्व प्रदान करती है। फलतः आचार्य क्षेमेन्द्र द्वारा प्रतिपादित यह एक समन्वित समीक्षा दृष्टि है। साथ ही यह भी कि रसादि काव्यतत्वों की भांति औचित्य तत्व का विकास इतिहास भी नाट्यशास्त्र के प्रणेता भरतमुनि से ही आरम्भ हो जाता है। यही नहीं पश्चाद्भावी काव्य समीक्षक भी औचित्य तत्व की उपेक्षा नहीं कर सके हैं और उसके महत्व को अंगीकार करते रहे हैं। आचार्य आनन्दवर्धन ने तो स्पष्टतः अनौचित्य को रसभंग का एक मात्र कारण माना है।

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्यकारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा।।

ध्वन्या० ३.१५

आचार्य क्षेमेन्द्र ने अपने से पूर्ववर्ती काव्यसमीक्षकों से औचित्य सूत्रों को ग्रहण करते हुए बहुत ही मुक्तचिन्तन के साथ औचित्य रूपों का प्रतिपादन किया है। अपने द्वारा निर्धारित औचित्य रूपों का लक्ष्य समन्वित प्रदर्शित करते हुए क्षेमेन्द्र ने अपनी समीक्षादृष्टि को और अधिक प्राणवान् बनाया है।

आचार्य क्षेमेन्द्र ने औचित्य तत्व के विविध आयामों का निर्धारण

करते हुए जो औचित्यभेद प्रदर्शित किये हैं वे साहित्य की विभिन्न विधाओं के सन्दर्भ में केवल दिशा उन्मीलन करने वाले ही माने जा सकते हैं उन्हें इयत्ता में नहीं बाँधा जा सकता। अतः औचित्य दृष्टि से साहित्य की विधा विशेष की कृति का समीक्षात्मक अध्ययन करने के लिए अध्येता को निश्चित ही कुछ अभिनव और स्थिर मानदण्ड निर्धारित करने होंगे, जैसा कि प्रस्तुत अध्ययन में किया गया है।

औचित्य दृष्टि के प्रकाश में किये गये इस अध्ययन के द्वारा महाकवि भारवि के कृतित्व में औचित्य के अनुपालन एवं उल्लंघन को यथास्थान रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। अपने इस उद्देश्य में यह अध्ययन कहाँ तक सफल हो सका है इसका निर्णय तो मान्य विद्वज्जन ही कर सकेंगे किन्तु इतना अवश्य है कि इसप्रकार के अध्ययन से औचित्यदृष्टि के प्रकाश में साहित्य की विधा विशेष की किसी भी कृति के समीक्षात्मक अध्ययन का एक अभिनव मार्ग अवश्य खुलता है।

नमो राघवाय।

सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची

संस्कृत

अभिज्ञानशाकुन्तलम् : कलिदास, सम्पादक डॉ० निरूपण विद्यालंकार तथा बाबूराम पाण्डेय, तृतीय संस्क०, साहित्य भण्डार मेरठ

औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र, हिन्दी अनुवाद नारायण सिंह, प्रथम संस्क०, १९६२, वाराणसी

औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र, हिन्दी अनुवाद आचार्य व्रजमोहन झा संस्क० १९६४, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी

औचित्यविचारचर्चा : क्षेमेन्द्र : हिन्दी अनु० डा० मनोहरलाल गौड़ भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़

काव्यालंकार : भामह, व्या० देवेन्द्र नाथ शर्मा संस्क० १९६२, पटना

काव्यालंकार : रुद्रट, व्या० डॉ० सत्यदेव चौधरी, प्रथम संस्करण १९६५ वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली

काव्यादर्श : दण्डी, सुदर्शनाव्याख्या, व्या० धर्मेन्द्र कुमार गुप्त, प्रथम संस्क० १९७३, मेहरचन्द लक्ष्मनदास, दिल्ली।

काव्यालंकार सूत्रवृत्ति : वामन, कामधेनु संस्कृतव्याख्या तथा विद्याधरी हिन्दी व्याख्या, व्या० केदारनाथ शर्मा, प्रथम संस्क० १९७७ चौखम्बा अमरभारती, वाराणसी।

काव्यमीमांसा : राजशेखर, अनु० केदारनाथ सारस्वत, विहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना

काव्यप्रकाश :	मम्मट, आचार्य विश्वेश्वर, सम्पादक डॉ० नगेन्द्र प्रथम संस्क० संवत् २०१७, ज्ञान मण्डल सि०, वाराणसी
काव्यदीपिका :	कान्तिचन्द्र भट्टाचार्य, सम्पादक डॉ० निरूपण विद्यालंकार, चतुर्थ संस्क० १९७१, साहित्य भण्डार मेरठ ।
किरातार्जुनीयम् :	भारवि, अनु० रामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री, प्रथम संस्क०, लोक भारती, इलाहाबाद।
किरातार्जुनीयम् :	भारवि, घण्टापथटीका, हिन्दी अनु० आदित्य नारायण पाण्डेय, पंचम संस्क० १९६८, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी
किरातार्जुनीयम् : (१-२ सर्गः)	भारवि, हिन्दी व्या० वैणीमाधव शास्त्री मुसलगांवकर, संस्क० द्वितीय विनोद प्रकाशन, आगरा।
किरातार्जुनीयम् : (१-६ सर्गः)	भारवि, हिन्दी अनु० जनार्दन शास्त्री पाण्डेय मोतीलाल बनारसी, दिल्ली।
तर्कसंग्रह :	अन्नंभट्ट, आथले एण्डबोडास संस्क० १९३० भाण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इंस्टिट्यूट, पूना
दशरूपक :	धनंजय, अनु० श्री निवास शास्त्री, प्रथम संस्क० १९६९, साहित्य भण्डार, मेरठ।
ध्वन्यालोक :	आनन्दवर्धन, (पूर्वाद्ध व उत्तरार्द्ध) तारावती हिन्दी व्याख्या, व्या० डॉ० रामसागर त्रिपाठी प्रथम संस्करण १९६३, मोतीलाल बनारसी दास दिल्ली।

नाट्यशास्त्र	:	भरत, टीका० मधुसूदन शास्त्री, संस्करण १९७१ वाराणसी।
पंचतन्त्र	:	विष्णु शर्मा, निर्णयसागर प्रेस, संस्करण १९५२, बम्बई।
महाभारत	:	व्यास, (वनपर्व) गीताप्रेस, गोरखपुर।
रघुवंशमहाकाव्यम्	:	कालिदास, सम्पादक, आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, चतुर्थ संस्करण १९८०, चौखम्बा सुरभारती वाराणसी।
रसगंगाधर	:	पण्डितराजजगन्नाथ, चन्द्रिका हिन्दी व्याख्या, व्या० बदरीनाथ झा संस्क० १९५५, चौखम्बा विद्याभारती, वाराणसी।
वाल्मीकीय रामायणम्	:	वाल्मीकि, संस्कृत हिन्दी संस्करण, गीताप्रेस गोरखपुर।
लघुसिद्धान्तकौमुदी	:	वरदराज, व्या० महेशसिंह कुशवाहा, संस्क० १९७६, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
वक्रोक्तिजीवितम्	:	कुन्तक, व्या० राधेश्याम मित्र, द्वितीय संस्क० १९७७ चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी।
वृहत्कथामंजरी	:	क्षेमेन्द्र, निर्णयसागर प्रेस, काव्यमाला ६९, संस्क० १९३१
व्यक्तिविवेक	:	महिमभट्ट, अनु० डॉ० रेवाप्रसाद द्विवेदी, संस्क० १९६४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
वैयाकरणभूषणसार	:	कौण्डभट्ट, दर्पणटीका, भूषणव्याख्या व्या० अनन्तशास्त्री फडके, संस्क० १९३९, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस वाराणसी।

शिवपुराण : व्यास, संस्कृत हिन्दी संस्करण, हिन्दी टीका पं० ज्वाला प्रसाद मिश्र संवत् १९६५, खैमराज श्रीकृष्णदास वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

शिशुपालवधम् : माघ, मणिप्रभा हिन्दी व्याख्या, व्या० हरगोविन्द शास्त्री, संस्क० १९५५, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस।

साहित्यदर्पण : विश्वनाथ, विमलाहिन्दी व्याख्या, व्या० शालग्राम शास्त्री, संस्क० १९५६, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

सिद्धान्तकौमुदीम्ः भट्टोजीदीक्षित, तत्वबोधिनी व्याख्या, वासुदेवशर्मा, संस्क० १९३३, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई।

सुवृत्ततिलक : क्षेमेन्द्र, प्रकाश हिन्दी व्याख्या, व्या० ब्रजमोहन झा, प्रथम संस्क० १९६८ चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।

हनुमन्नाटक : हनुमान, दीपिकाव्याख्या, संस्क० संवत् १९०९ वैंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

हिन्दी

अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीयभाग : रामलाल वर्मा शास्त्री, द्वितीय संस्क० १९६९, नेशनल पब्लिशिंग हाऊस, नयी दिल्ली

अरस्तु का काव्यशास्त्र : डॉ० नगेन्द्र, तृतीय आवृत्ति संवत् २०३१, भारती भण्डार, इलाहाबाद।

आचार्य क्षेमेन्द्र : डॉ० मनोहरलाल गौड़, भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़।

औचित्यविमर्श : डॉ० राममूर्ति त्रिपाठी, प्रथम संस्क० संवत् २०२१ भारती भण्डार, इलाहाबाद।

औचित्यसम्प्रदाय का हिन्दीकाव्यशास्त्र पर प्रभाव : डॉ० चन्द्रहंस पाठक, प्रथम संस्क० १९६७ चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।

औचित्य सिद्धान्त और हिन्दी का रीतिकाव्य : डॉ० सुरेश चन्द्र त्रिवेदी, संस्क० १९७७ शोध प्रबन्ध प्रकाशन, दिल्ली।

काव्यांगप्रक्रिया : डॉ० शंकर देव अवतरे, संस्क० १९७७, लिपिप्रकाशन, दिल्ली।

काव्यदोष : जनार्दन स्वरूप अग्रवाल, संस्क० १९७८, चौखम्बा अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी।

कालिदास की लालित्य योजना : डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी, संस्क० १९६५ नैवेद्य निकेतन, वाराणसी

काव्यगुणों का शास्त्रीय विवेचन : शोभाकान्त मिश्र, प्रथम संस्क० १९७२, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

काव्यशास्त्र के परिदृश्य :	डॉ० सत्यदेव चौधरी, प्रथम संस्क० १९७५, अलंकार प्रकाशन, दिल्ली।
तुलसीकाव्य में औचित्यविधान :	डॉ० लक्ष्मी नारायण पाठक, संस्क० १९७९ तक्षशिला प्रकाशन, दिल्ली।
ध्वनि सिद्धान्त :	डॉ० राममूर्ति शर्मा, संस्क० १९८०, अजन्ता पब्लिकेशन जवाहर नगर, दिल्ली।
पाश्चात्य काव्यशास्त्र की परम्परा :	डॉ० नगेन्द्र, संस्करण १९६६ हिन्दी विभाग दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली
भारविकाव्य में अर्थान्तरन्यास :	डॉ० उमेशप्रसाद रस्तौगी, संस्क० १९६५ चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी।
भारतीय काव्यशास्त्र :	सम्पादक उदयभानु सिंह, सामयिक प्रकाशन, दिल्ली।
भारतीय साहित्यशास्त्र : (भाग २)	आचार्य बलदेव उपाध्याय, द्वितीय संस्क० प्रसाद परिषद् , काशी।
भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त :	डॉ० कृष्णदेव झारी, संस्क० १९७१ अशोक प्रकाशन, दिल्ली।
भारतीय काव्यशास्त्र के प्रतिनिधि सिद्धान्त :	डॉ० राजवंशसहाय हीरा, प्रथम संस्क० संवत् २०२४, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
रामचरितमानस वाग्वैभव :	डॉ० अम्बाप्रसाद सुमन, प्रथम संस्क०, विमान भारती, नई दिल्ली।
रससिद्धान्तस्वरूप विश्लेषण :	आनन्द प्रसाद दीक्षित, संस्क० १९६०, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली।

क्षेमेन्द्र और उनका समीक्षा सिद्धान्त :	डॉ० शिवशेखर मिश्र, प्रथम संस्क० १९७४, कुमार प्रकाशन, लखनऊ।
क्षेमेन्द्र की औचित्य दृष्टि :	डॉ० रामपाल विद्यालंकार संस्क० संवत् २०१६ मोतीलाल वनारसीदास, पटना।
समीक्षाशास्त्र :	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, संस्क० १९५४, चौखम्बा वाराणसी।
समीक्षा सिद्धान्त :	डॉ० कृष्णदेव शर्मा प्रथम संस्क० १९७८, विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा।
साहित्यानुशासनम् :	आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, संस्क० १९७०, चौखम्बा संस्कृत सीरिज आफिस, वाराणसी।
संस्कृत सुकवि समीक्षाः	आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रथम संस्क० १९६३, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी।
संस्कृत आलोचना :	आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्क० १९५७, प्रकाशन ब्यूरो सूचनाविभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ
साहित्य का मनोवैज्ञानिक अध्ययन :	देवराज उपाध्याय, प्रथम संस्क० १९६४, लखनऊ
संस्कृत महाकाव्य की परम्परा :	केशवराव मुसलगांवकर, प्रथम संस्क०, चौखम्बा संस्कृत आफिस, वाराणसी
संस्कृत कवि दर्शन :	डॉ० भोलाशंकर व्यास, द्वितीय संस्क० १९६२, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी
संस्कृतकाव्यशास्त्र का इतिहास :	डॉ० सुशील कुमार डे, प्रथम संस्क० भाग १, २ १९७३ विहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

संस्कृत साहित्य का समीक्षात्मक इतिहास : डॉ० कपिल देव द्विवेदी

Aristotlets Poetics & Rhetories-Aristotle, Edition-1955 Dent & sons Everyman's Library, London.

Defence of poesy-Sidney Philip, Edition, 1959, Macmillians & co. Ltd. London.

Highways & By Byways of Literary Criticism in Sanskrit-Kuppuswami, Edition % 1945, Madras

Kshemendra Studies - Dr. Surya kant, Edition % 1954

On the sablinre- Longinus, Edition 1954, Oxford University Press, London.

Principles of Literacy Criticism - Richard I.A., Edition : 1959- London.

Shrinagar Prakas - Bhoi, Dr. V. Raghavan, Edition:1940, Madras

Some concepts of the Alankar Shastra - Dr. V. Raghavan Edition : 1942, Adyar Library, Madras

कोश

अमरकोश : अमरसिंह, संस्क० १९६२, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई।

अमरकोष : अमरसिंह, मणिप्रभाटीका, संस्क० १९७८, टीका० हरगोविन्दशास्त्री, वाराणसी।

भारतीय साहित्य शास्त्रकोश : डॉ० राजवंश सहाय हीरा प्रथम संस्क० १९७३, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना।

वाचस्पत्यम् : तारानाथतर्कवागीश, संस्क० १९६२ चौखम्बा, संस्कृत सीरीज, वाराणसी।

संस्कृत हिन्दीकोश : वामन शिवराम आप्टे, द्वितीय संस्क० १९६९ पुनर्मुद्रण १९८१, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

संस्कृत शब्दार्थकौस्तुम् : द्वारका प्रसाद चतुर्वेदी तथा तारिणीश झा, चतुर्थ संस्क० १९७७, रामनारायणलाल वैनीप्रसाद इलाहाबाद।

हलायुधकोश : जयशंकर जोशी, प्रकाशन ब्यूरो सूचना विभाग उत्तर प्रदेश, लखनऊ।

Sanskrit- English Dictionary, Moneir, Edition, 1956 oxford university Press, London.

Sanskrit-English Dictionary, V.S. Apte, Edition, 1957, Niotilal Basarsidas, Delhi.

शोध प्रकाशन विभाग
श्री लाल बहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विश्वविद्यालय
बी-4, कुतुब सांस्थानिक क्षेत्र, नई दिल्ली-110016